॥ श्रीः ॥

मन्त्रमीमांसा ।

ब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकेन पण्डित-
श्रीराममिश्रशास्त्रिणा प्रणीता ।

MANTRA-MIMANSA.

BY

PANDIT RAMA MISRA SASTRI,
President of Literary Society of the Benares Pandits.

PRINTED AT THE EXPENSE & SPECIAL ORDER OF
PANDIT MATHURA PRASADA MISRA, LATE
HEAD MASTER COLLEGIATE SCHOOL BENARES.

काशी ।

भारतजीवन प्रेस में मुद्रित हुआ

सन् १८८६ ईस्वी ।

प्रथम बार ५०० ।

PURPORT OF THE HINDI PREFACE IN ENGLISH.

1.—The necessity of receiving a *Mantra* is evident from the Vedas and the Dharma Sastras, which are based on the principles of the Vedas. This signifies that it is obligatory on the Brahmans, the Kshatriyas, and the Vaisyas, who are called *Dvijas* or twice-born, to receive the *Gayatri-Mantra*; and it is absolutely necessary for others not entitled to the *Gayatri-Mantra*, to receive the Mantras given in the Puranas and Tantra Sastra.

The established truth of the Sastras is that there is no emancipation of the soul without the requisite Mantra.

But in process of time, as the Vaidic age declined, people by mistake began to consider that it was needful for even the twice-born to receive, like the Gayatri-Mantra, the *Mantras* of the Puranas and the Tantra Sastra.

It so happened that nearly all the *Maithil* & *Bengali* Pandits began to hold the acceptance of the Mantras of the Tantra Sastra above all. The teachers of these were paid more respect than those of the *Gayatri*, and the *Gayatri-Mantra* itself amounted in their opinion to nothing more than a mere matter of course. To such an extent did this evil increase that the teaching of the Mantras was adopted as a profession.

With a view to try and remove this great evil I have written this small book, Mantra-Mimansa by name, in which I have shown by proofs the correctness of my statement, and the attention of the public is directed to the Sanskrit extracts, in order to have a greater knowledge of the subject.

2.—Out of the four graded orders*, periods of the religious life of a Brahman, only the Brahmans of the second order and the Brahmacharis or Brahmans who practise chastity throughout life, have a rightful claim to teach *Mantras*; and not, by any means whatever, Dandis or Brahmans of the fourth order, and others scripturally unauthorized. In respect of a *Dandi*, the Sastras are of opinion that if one erroneously receives a Mantra from him, it is indispensably necessary for his salvation to undergo a penance, before receiving again a *Mantra* from a householder.

Notwithstanding the dictates of the *Sastras*, people make *Dandis* their spiritual guides. The cause of this is obvious. It is mainly owing to the inattention of the no-

* First, that of the Brahmachari or Student; second, that of the Grihastha or householder; third, that of the Vanaprastha or anchorite; fourth, that of the Bhikshuk or beggar.

bility of this country to the Sastras, and to their dulness of intellect. Not only this but more.

The majority of the population of this country are under an impression that *Santas, Mahantas, Dandis,* and *Gosains* have the supernatural power of child-giving to one who longs for a child. All this is the result of the teaching of Mantras by a *Dandi.*

But be it as it may, I have endeavoured to the best of my limited ability to show that it is wholly unscriptural to receive *Mantras* from a *Dandi* or an unauthorized Brahman.

3.—The different classes of *Mantras* have also been shortly described.

RAMA MISRA SASTRI
Brahmamritavarshini Sabha
BENARES.

श्रीः ।

श्रीनारायणदत्ताख्यः सारस्वतशिरोमणिः ।
सुप्रसिद्धः सुवैद्योऽस्य कार्यस्य घटकोऽभवत् ॥

॥ श्रीः ॥

ग्रन्थकारयितृकुलकीर्त्तनम् ।

उन्नावमण्डलगतस्त्रिदशापगायाः कूलेऽस्ति वक्सर इति प्रथितः प्रदेशः । केचिद्द्विजाः प्रतिवसन्ति हि तत्र कान्यकुब्जोत्तमाः परमसामगकौथुमीयाः ॥ तेष्वाऽऽस्त धर्मपरमः सुजनाग्रगण्यस्तत्र स्थितो नवलदत्त इति प्रसिद्धः । मिश्रास्पदो हिमकरस्य, सहोदरो यःकीर्त्याऽभूद्धिमकरस्य विसारिकायाम् ॥ वैद्यनाथ इति तस्य सुतोऽभूत्पैतृकं खलु समर्थयमानः । कान्यकुब्जगणनीयगुणाढ्यो वक्सरप्रतिनिवासपरश्च ॥ तत्सुतश्च खलु सेवकरामो विश्वनाथपुरवासपवित्रः । पूर्वपूरुषचरित्रसमेतः सर्वलोकपरिशीलितकीर्त्तिः ॥ तस्मादुदैदयमथो मथुराप्रसादमिश्रः स्वधर्मपरिरक्षणधीरवीरः । योऽयं श्रिया सह निरर्गलपूर्णपूर्णं वाग्वैभवं ननु समार्जयदार्जवेन ॥

॥ श्रीः ॥

भूमिका ।

सुजनशिरोमणि काशी महापुण्य क्षेत्र के निवासी कान्यकुब्जकुलालङ्करण श्री पं० मथुराप्रसाद मिश्र जी ने कुछ दिन व्यतीत हुये कि तीन प्रश्न मेरे पास प्रसिद्ध सुवैद्य पं० नारायणदत्त जी के द्वारा भेज दिये और कहा भेजा कि इन प्रश्नों का उत्तर वेद और मन्वादि महामान्य प्रमाणों के द्वारा असंकीर्णहृदय से होना चाहिये। किसी सांप्रदायिक आधुनिक खैंच के कारण पक्षपात न होय जैसा कि समयानुसार संभव है, और प्रश्न ये थे—कि, क्या ब्राह्मणों को अथवा अन्य भी त्रैवर्णिकों को गायत्री से भिन्न मंत्र लेना अत्यावश्यक है जैसे कि गायत्री ग्रहण करना अत्यावश्यक है ? ॥ १ ॥ क्या संन्यासी भी गृहस्थ को मंत्रोपदेश कर सकता है ? ॥

मनु जी की उक्त विवाहविधि तो है ही नहीं कि मन, वचन, कर्म से जन्मान्तर में भी दूसरा भाव जहां दोष का जनक होय। कान अपने हैं फुक-वाते चलो, किसी न किसी मंत्र से विना परिश्रम धन दौलत और गोद खिलाने को बाल लाल अवश्यही मिलेगा, बस एक इसी बात से आप को विदित हो गया होगा कि जब चाहें तब जिस मंत्र को लेवें और जब चाहें तब छोड़ दें तो वह मंत्र क्या गायत्री के संग लगेगा ? क्या गायत्री मंत्र की भी यह दशा कहीं लिखी है ? गायत्री मंत्र वह है कि जिस से त्रैवर्णिकों का धर्मार्थ, काम औ मोक्ष सिद्ध होते हैं और जिसका उपदेश करने वाला गुरू कभी भी नहीं पलटा जाता औ न तो मंत्र ही पलटा जाय। यहां पर कितने लोग कह बैठेंगे कि साहब, रामानुज संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय, निम्बार्क औ माध्व संप्रदाय वाले औ शङ्कराचार्य के मतानुयायी समस्त ही लोग गायत्री से भिन्न भी

मंत्र देते हैं तो आप के कहने पर कैसे बिश्वास किया जाय। यदि आप यह प्रश्न करते हों तो कृपा कर संस्कृत जो लिखा गया है उसे किसी उत्तम शास्त्रज्ञ के संग बैठ कर निरीक्षण करिये आपको ऐसी २ शतावधि शंकाओं का उत्तर इस छोटी सी पुस्तक में मिलेगा आदि अन्त से पढ़िये तो, शीघ्रता मत करिये, यदि संस्कृत से भाषा की जाय तो वह संस्कृत से चतुर्गुण हो जायगी इस हेतु यह समस्त विचार संस्कृत के द्वारा ही अच्छा होगा ॥

अब रहा संन्यासी का गुरू करना सो इस विषय में हमें यह कहना अत्यावश्यक हुआ है कि गायत्री मंत्र का न तो कोई संन्यासी से उपदेश ही लेता है औ न कहीं शास्त्र ही में संन्यासी से गायत्री लेना लिखा है। अब रहा क्षुद्र कामना की इच्छा से मन्त्र लेना तो वह कैसे संन्यासी से मन्त्र लिया जा सक्ता है जो ऐहिक फल साधक है, जिस मंत्र का पुरुष पूर्व

साधन किये रहता है वह मंत्र उस से लेजा हो-ता है तो सांसारिक व्यवहार के मंत्र से और संन्यासाश्रम से तो सहस्र हस्त का अंतर है संन्यासी हो कर पुरुष ऐसे मन्त्र को क्योंकर साधन कर सक्ता है, अब रहा मोक्षमन्त्र तो ऐसे मंत्र का संन्यासी उपदेश दे सकता है परन्तु शास्त्र में गृहस्थ को संन्यासी से मंत्र लेने का निषेध लिखा है * तो कैसे ले सकते हैं कितने लोग यह भी कहते हैं कि शास्त्र में जो यति से दीक्षा लेने का निषेध लिखा है वह जैन, बौद्ध इत्यादि अविधिन्यास वाले से मंत्र ग्रहण का निषेध है परन्तु यह भी सर्वथा मिथ्या औ दंभ अज्ञान की बात है यह हम ने अच्छे प्रकार संस्कृत में सिद्ध किया है उसी

* जैसा योगिनी तन्त्र में यतेर्दीक्षां गृहीत्वा तु कदाचिदपि मोहितः। प्रायश्चित्ते धेनुरेका त्रिरात्रव्रतमेव वा॥ प्रायश्चित्तं ततः कृत्वा पुनर्दीक्षां समाचरेत्॥ ऐसे २ संन्यासी से दीक्षा लेने के प्रतिषेध शतशः चन्द्रयामल, रुद्रयामल इत्यादि तन्त्रो में मिलते हैं।

देख लो और अपना मन भरलो, अब रहा यह कि कोई २ लोग संन्यासी को गृहस्थ हो कर भी गुरु करते हैं, तो इस से क्या हुआ हमें शास्त्र की बात लिखनी है कि संसार के आचार का मूल खोजना है, जब हमें स्पष्ट वचन मिल गया कि संन्यासी गृहस्थ को मंत्रोपदेश नहीं कर सकता तो अब यह भी बात अवशेष नहीं है कि संन्यासी को मंत्रोपदेश का अधिकार जिस से सिद्ध होय ऐसा भी वचन कहीं मिल जायगा यह कह के अपनी बात को पूरी कर सकोगे। और आचार की तो बात मत पूछो अन्य वर्णों की कौन बात है कितने ब्राह्मणों को भी आप देख सकेंगे जिन के यहां गाज़ीमियां की पूजा बहु काल से होती आती है औ ताजिया माना जाता है औ मियां साहब का फूंका "सच पूछो तो थूंका" जल लड़के लोगों को दिया जाता है औ उनका गर्भाधान संस्कार के पूर्व ही रहीमबक्स, करीमबक्स नाम रक्खा जाता है औ जगन्नाथ के रथ की

याचा न होय तो कोई चिन्ता नहीं परन्तु ताजिया के साम्हने लड़के की साष्टांग अवश्यही कराते हैं, जब यही लोकाचार है तब हमें यह मत पूछो कि लोकाचार का मूल क्या है। औ तीसरे प्रश्न का उत्तर संस्कृत में देख लेना वह कुछ बहुत कठिन नहीं है।

अब मुझे जगदीश्वर सर्वनियामक सर्व के साक्षी औ प्रेरयिता से यह प्रार्थना है कि वह ऐसी सुमति देवे कि आप लोग त्रैवर्णिक अपने मूल शास्त्र वेद पर निर्भर करैं औ उसके सारस्वरूप मंत्र पर दृढ़ विश्वास धरैं और छोटी २ बातों को भी आप के पूर्वपितृ लोगों का परम धन जो वेद है "जो कि नित्य क्षीण होता जाता है" उसी के द्वारा निश्चय करैं और पाखंड मार्गों से दूर रहें।

आप ही के हितार्थ मैंने "व्रात्यसंस्कारमीमांसा" बनाई है, जो कि अति शीघ्र छप जायगी और आशा की जाती है कि इस पुस्तक के

प्रचार से इस घोर कलि में भी एक बार फिर त्रैवर्णिक व्यवस्था हो जायगी, ठीक ही है "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !" यह स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को कहा ही है। औ अनेक काल से प्रवृत्त विवाह विषयक महान्धकार के निवृत्त्यर्थं उद्वाह समय मीमांसा भी प्रस्तुत हो चुकी है, शीघ्रही छप कर आप को मिलेगी, आप उसे काम में लाइये और लोकद्वय में सुखी होइये परन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" कहीं आधुनिक हठी, नाम के पंडित के हाथ न पड़ियेगा नहीं तो आप डूबते हुये कहीं आप को भी अज्ञान सागर में स्नान न करवाय दें। आप मन्वादि परममान्य धर्मशास्त्र के द्वारा अपना निर्णय कीजिये॥

आपका शुभचिन्तककाशीस्थ —
ब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादक
रामामिश्र शास्त्री।

॥ श्रीः ॥

श्रियैनमः ।

श्रीपतयेनमः ।

मन्त्रमीमांसा ।

श्रीशाङ्घ्रिद्वितयीप्रपित्सुजनतासिध्यत्समीहाविधौ ।
यस्याः स्वारसिकानवद्यकरुणा जागर्त्यमुत्रानिशम् । स्वाराजत्यतिदुर्गतोऽपि च यया दृष्टो दयातः सकृद् । यत्संबन्धनिबन्धनं भगवतः श्रीमत्त्वमेनां श्रये ॥ मङ्गलं ननु तनोतु संश्रितान् प्रति जनाज्जनार्दनः । यत्पदस्मरणवीतकल्मषा नो गतागतस्पृशो जनाः ॥

कच्चिद् गायत्रीव्यतिरिक्तमन्त्रग्रहणं नित्यं * त्रैवर्णिकानाम् ? इति प्रश्ने कथंचिदपि न नित्यमिति शास्त्रतत्त्वविदां परामर्शः । यथा हि अनादिनिधनाऽविच्छिन्नवैदिकसंप्रदायसिद्धोपदेशस्य गायत्रीमन्त्रस्यानुपदेशे त्रैवर्णिकाः प्रत्यवयन्ति पतन्ति, न च ब्राह्मणादिभाजो भवन्ति

* अत्रायमभिसंधिः, नित्यं नैमित्तिकं काम्यमिति त्रिविधं कर्म, तत्र नित्यं त्रैवर्णिकानां त्रिसन्ध्यादि, तच्च द्विविधं संस्कारकं विविदिषाजनकं च, तत्र संस्कारकमिदमिति

न तथा मन्त्रान्तराग्रहणे तेषां द्विजत्वानिष्पत्तिः प्रत्यवायोत्पत्तिर्व्रात्यता वा, गायत्र्यास्तु पुनरनुपदेशे "अत ऊर्द्धं पतन्त्येते यथा कालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः" इति स्पष्टमेव व्रात्यतामाह मनुर्द्वितीयाध्याये, एवमपरेऽपि स्मृतिकाराः स्मार्तसूत्रकृतश्च सर्वे गा-

धिया क्रियमाणं संस्कारकं तदेव चेद् "यत्करोषि यदश्नासि इति गीतोक्तरीत्या भगवत्यर्पणमुद्रया क्रियेत तर्हि विविदिषाजनकं, नित्यत्वं च प्रत्यवायपरिजिहीर्षयाऽनुष्ठीयमानत्वम्, अस्ति च मा प्रत्यवगाम् इति धिया त्रिसन्ध्यादिनित्यानुष्ठानमिति लक्षणसमन्वयः। नन्वेवमकरणे प्रत्यवायजनकत्वं नित्यत्वमिति पर्यवस्यति तच्चासंभवि अभावाद् भावोत्पत्त्यनङ्गीकारेण नित्याननुष्ठानस्य प्रत्यवायजनकत्वासंभवादिति चेन्न अभावस्य भावाजनकत्वमित्यनेन किं भावस्याभावनिमित्तकत्वं निषिषेधयिषितमुताभावसमवायिकारणकत्वासमवायिकारणकत्वे प्रतिषिषेधयिषिते ? नाद्यः, वीजध्वंसस्याङ्कुरनिमित्तकारणतायाः सर्वानुमततया प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य च कार्यमात्रं प्रति कारणतायाः सिद्धान्तसिद्धतया तथा वक्तुमशक्यत्वात् अभावस्य भावसमवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वे तु न केनाप्यङ्गीक्रियेते इत्यकिञ्चिदिदं, ततश्च यथा गङ्गास्नानेन पुण्ये जननीये

यत्रीग्रहणहीनानां त्रैवर्णिकानामैकस्वर्येण पातित्यमाचक्षते । गायत्रीव्यतिरिक्तमन्त्रहीनानां तु न पातित्यावगतिर्वचनतोऽन्यथा लेकस्य पुंसः शैववैष्णवशाक्तगाणपत्यपाशुपताद्यनन्तपरस्परविरुद्धाचारपुरुषपरिग्राह्यमन्त्रग्रहणानुपपत्त्या सर्वेषामेव गायत्र्यतिरिक्ततत्तद्देवसंबन्धितत्तदेकमात्रमन्त्रपरिग्रहजुषां शिष्टानां पातित्यप्रसङ्गात्, न चेष्टापत्तिस्तथासति सर्वशिष्टव्यवहारविलोपापत्तेः । न च

आत्मा समवायिकारणमसमवायिकारणं च स्नानजनकादृष्टवदात्ममनःसंयोगोनिमित्तकारणं च यथायथं कालादि, यथा वा ब्रह्मवधजन्ये दुरदृष्टे समवायिकारणमात्मा असमवायिकारणं वधजनकादृष्टवदात्ममनःसंयोगस्तथा नित्यानुष्ठानजन्यपापसमवायिकारणमात्मा असमवायिकारणं पापजनकपूर्वोपार्जितदुरदृष्टवदात्ममनःसंयोगो निमित्तकारणं च नित्याननुष्ठानमेवेति न कश्चिदिहावद्यसंबन्धस्तस्मात् "अभावाद् भावोत्पत्तेरदर्शनादकरणे प्रत्यवायो न युक्तिसहः" इति प्राचां वाचिकमपार्थकं बिभीषिकामात्रं, न चैवं नैमित्तिकेन संकरो जातेष्ट्यादेरकरणे तत्रापि प्रत्यवायश्रुतेरिति वाच्यम् । अकरणे प्रत्यवायजनकताया उभयसाधारण्येऽपि नैमित्तिके जातेष्ट्यादौ पुत्रजन्मात्मकनिमित्तसंबन्धस्याधिकारितावच्छेदककुक्षिनिक्षिप्ततया नित्ये च शुचितत्कालजीवितामात्रस्याधिकारिताप्र-

"अदीक्षितानां मर्त्यानां दोषं शृण्वन्तु साधकाः । अन्नं विष्ठासमं ज्ञेयं जलं मूत्रसमं तथा ॥ अदीक्षितकृतं श्राद्धं श्राद्धं चादीक्षितस्य च ।

गृहीत्वा पितरस्तस्य नरके चाशु दारुणे ।
पतन्त्येव न सन्देहो यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥
तथाप्यदीक्षितस्यार्चां देवा गृह्णन्ति नैव हि ।
तस्माददीक्षितं दृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेत् ॥
दीक्षाग्रहणकाले तु पापराशिः प्रलीयते ।
निर्वाणपदसंयुक्तो वह्निर्गच्छति तत्परः ॥
सर्वाश्रमेषु दीक्षाया नित्यत्वं परिचक्षते ।
अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्ति त्राता सुरेश्वरि ! ॥
तथा दीक्षाविहीनस्य नेह त्राता परत्र च ।
न तपोभिर्जपैर्होमैरुपचारैश्च साधनैः ॥
दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम् ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥
दीक्षामूलं जगत्सर्वं दीक्षामूलं परन्तपः ।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद्यत्र कुत्राश्रमे जनः ॥

योजकतया शुचितत्कालजीविनोऽकरणे प्रत्यवायजनकं नित्यमिति लक्षणपर्यवसानेन नित्यनैमित्तिकयोरसाङ्कार्यस्य सुनिर्वहत्वादधिकं तु मत्प्रणीतायामुद्वाहसमयमीमांसायामवगन्तव्यम् ॥

अदीक्षितस्य मरणे रौरवं नरकं व्रजेत्।
तस्माद्दीक्षां प्रयत्नेन गृह्णीयादागमान्मुदा॥

इति यामलवाक्यैर्दीक्षाया नित्यत्वप्रतिपादनेन, अग्रहणे जलान्नयोर्विष्ठामूत्रसमत्वाख्यानेन अदीक्षितमरणस्य रौरवगमनहेतुत्ववचनेन च दीक्षाग्रहणं नित्यमेवेति वाच्यम् दीक्षाया वैदिकपौराणिकतान्त्रिकभेदभिन्नतया मोक्षसाधकत्वत्रिवर्गसाधकत्वपुरुषार्थचतुष्टयसाधकत्वप्रभृतिभेदभिन्नतया च आद्यमाभिव्यञ्जकत्ववर्णाभिव्यञ्जकत्वाद्यनेकभेदभिन्नतया च कां दीक्षामवलम्ब्य भवतोऽयं यामलवचनोपरोधविन्यासप्रयासः? इति वक्तव्यं, यदि हि वैदिकीं दीक्षामभिप्रेत्य तर्हि ओमिति ब्रूमः, गायत्रीस्वरूपायास्तस्या ब्राह्मणादिवर्णाभिव्यञ्जकतायाः प्रैषादिस्वरूपायाश्च तस्याः संन्यासाद्याश्रमनिर्वाहकताया वैदिकानां सर्वेषामेवाभिमततया कस्यापि तत्र विप्रतिपत्तिविरहेण विचाराप्रवृत्तेः, यदि च गायत्रीमपहाय वैदिकमन्त्रान्तरपरिग्रहस्यावश्यंभावो बुबोधयिषितस्तदापि गायत्र्यधिकारिपुरुषत्वावच्छेदेन सामानाधिकरण्येन वेति पर्यनुयोगे प्रथमे वक्ष्यमाणरीत्या तस्य नावश्यकतेति ब्रूमः, द्वितीये तु अधिकारिविशेषाणां तस्यावश्यकत्वेन वैदिकमन्त्रान्तरपरिग्रहोऽप्युचित एवेत्यग्रे विवेचयिष्यामः। पौराणिकदीक्षामभिप्रेत्य तान्त्रिकीं वा दीक्षामभिप्रेत्य यद्युच्यते तदा वैदिकदीक्षाऽनधिकारिणां

शूद्राणां सर्वकालेषु, त्रैवर्णिकानामपि कामोपहतवृत्तीनां वैदिकदीक्षाच्युतानामनधीतवेदानां शूद्रकर्मणां वैदिककर्मस्वनधिकारिणां च कलौ म्लेच्छप्रायता मा प्रसाङ्क्षीदिति भवेदेव पौराणिकतान्त्रिकमन्त्रग्रहणस्यावश्यंभावः ॥ यथोक्तं मेरुतन्त्रे ।

"कृते श्रुत्युक्तमार्गः स्यात्त्रेतायां स्मृति भाषणम् ।
द्वापरे वै पुराणोक्तः कलावागमसंभवः ॥"

इति, न चैतावतापि सर्वत्रैवर्णिकानां कलौ तान्त्रिकमन्त्रग्रहणमावश्यकमिति भ्रमितव्यम् यतो नैतेन वचसा कलौ त्रैवर्णिकानां वचनमुद्रया गायत्रीमपहाय मन्त्रान्तरग्रहणस्यावश्यकता बोध्यते किन्तु वेदमार्गभ्रष्टानां "कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः"

इति गीतोक्तरीत्या मारणमोहनाद्यनुष्ठानरतानामुदरभरीणां स्वतः सिद्धे वैदिकमन्त्रत्यागे तमनूद्य पौराणिकादिमन्त्रग्रहणप्रचारः कलौ स्वरूपसन्ननूद्यते, विधीयतां वा गायत्रीग्रहणाधिकारवैधुर्ये मन्त्रान्तरग्रहणावश्यकतैव, न तावतापि गायत्रीं गृहीत्वाऽपि त्रैवर्णिकैर्मन्त्रान्तरं ग्रहणीयमेवेति विधित्सितमिति वक्तुं युक्तम् । अत एव मेरुतन्त्रे ॥

पार्वतीं प्रति शिवः "अशुद्धाः शूद्रकर्माणो ब्राह्मणाः कलिसंभवाः । तेषामागममार्गेण सिद्धिर्न श्रौतवर्त्मना ॥

आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत्सुधीः। न हि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥ उपासना त्रिधा प्रोक्ता श्रेष्ठा तत्र तु सात्त्विकी। यस्यां च मानसी पूजा जपमुख्यतमा स्मृता॥ राजसो दक्षिणो मार्गः प्रतिमायां च पूजनम्। बाह्योपचारैः पुष्पाद्यैस्तदाद्यानां विशिष्यते॥ तामसोपासनं प्रोक्तं पीठादौ बलिदानतः। वाममार्गेण तच्चाद्यं वर्णं हित्वा प्रशस्यते॥ एषा व्यवस्था संप्रोक्ता वामदक्षिणयोः परा"

इति स्फुटमेव तन्त्रे सिद्धयर्थिन उद्दिश्य आगममार्गोक्त-पूजामन्त्राद्युपग्रहो बोध्यते न तु सर्वब्राह्मणानामपरेषां वा द्विजानां मन्त्रान्तरपरिग्रहो विधित्स्यते इति तान्त्रिकपौराणिकचनजातैरेकजातीनां गायत्र्यनधिकारिणां, लौकिक-कामोपहतवृत्तीनामेव वा मन्त्रान्तरग्रहणमावश्यकमिति बोध्यते न तु सर्वेषामपि त्रैवर्णिकानामिति साहशामवलम्बनीयोऽयमजिह्मो वैदिकः पन्थाः। अत एव तु निर्वाण-तन्त्रे कौलधर्मं संस्तुत्य देवीं प्रति शिवः "अयं तु परमो-मार्गो गुप्तोऽस्ति पशुसंकटे। व्यक्तीभविष्यत्यचिरात्सं प्रवृत्ते कलौ युगे। कलिकाले प्रवृत्ते तु सत्यं सत्यं मयोच्यते। न स्थास्यन्ति विना कौलान् पशवो मानवा भुवि। यदा तु वैदिकी दीक्षा दीक्षा पौराणिकी तथा। न स्थास्यति व-रारोहे तदैव प्रबलः कलिः। यदा तु पुण्यपापानां परीक्षा वेदसंभवा। न स्थास्यति शिवे शान्ते तदैव प्रबलः कलिः॥

इत्यतिस्फुटतया कलिबलाद् वैदिकधर्मध्वंसानन्तरमेव द्विजेषु पौराणिकदीक्षाप्रचारस्तत्प्रणाशे च तान्त्रिकदीक्षाप्रचार इत्युक्तमिति न कथंचिदपि गायत्रीग्रहणाधिकारिणां पौराणिकतान्त्रिकमन्त्रजातेन गायत्रीमन्त्रस्य विकल्पसमुच्चयपरिकल्पनाप्रसङ्ग इति विवेचका एव परीक्षन्ताम्।

न च कलौ क्षत्रियवैश्यादिवर्णानामभावेन शूद्रप्रायवर्णानां सर्वेषामप्यावश्यको मन्त्रान्तरपरिग्रह इति त्वदुक्तरीत्यैव मन्त्रान्तरपरिग्रहावश्यकतासिद्धिरिति फल्गु शङ्कनीयम्, कलिधर्मनिरूपणैदम्पर्येण प्रवृत्तायां पराशरस्मृतौ "क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहकैः। शूद्रः शुध्यति मासेन पराशरवचो यथा" इति वर्णभेदभिन्नाशौचपक्षस्य स्पष्टमभिहितत्वेन तत एव कलौ चातुर्वर्ण्यव्यवस्थितेः शक्यसमर्थनत्वात् एतत्तत्त्वमधिकृत्य पराक्रान्तमस्माभिर्व्रात्यसंस्कारमीमांसासु नागेशमतनिराकृताविति तत एवास्य विशेषोऽवगन्तव्य इति शम्॥

केचित्तु त्रैवर्णिकपुरुषत्वावच्छेदेन रामकृष्णादिमन्त्रग्रहणावश्यकतां व्यवतिष्ठापयिषन्तः "अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्। कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः। मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः। ३ अ० श्लो०। ६५। ६६ इति मनुना, "यावतो ग्रसते पिण्डान् हव्यक-

व्येष्वमन्त्रवित्। तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तान् शूलानयोमुखान्” इत्यङ्गिरसापि अमन्त्रविदो हव्यकव्यानधिकार आमुष्मिकं दुष्फलं चोक्तं, तस्मान्मन्त्रग्रहणमावश्यकमित्युपसंजह्रुः। तदेतत्ते वादिनि संनेहुर्वा, आहत्योचुर्वा, परं भ्रमयाम्बभूवुर्वा, स्वयमेव बभ्रमुर्वा शिष्यानेव कुशकाशावलम्बनेनोपसंजग्टहुर्वा, कथंचिदपि क्षणमन्त्रग्राहणेन लोकानेवानुजग्टहुर्वेति विशिष्य नावधारयितुं पारयामः किंत्वेतच्छास्त्रविरुद्धं युक्तिपथातीतं चेति पुनरुद्भावयामो वक्ष्यमाणदूषणगणग्रासात् तथाहि श्रौतस्मार्त्तवचसामुपक्रमोपसंहारादिरूपतात्पर्यग्राहकलिङ्गषट्कोपेतार्थे तात्पर्यपर्यवसायित्वमुचितं वक्तुं, ततश्चेह “कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च। कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च” इत्यव्यवहितपूर्वमेव वेदानध्यायस्य कुलापकर्षहेतुताया उपक्रान्ततया अग्रे पठ्यमानश्लोकेऽपि तदर्थसमानार्थताऽवधारणमेव युक्तं कल्पयितुमिति प्रकृते मन्त्रपदेन मन्त्रभागोऽखिलोवेद एव वा मनोरनुमत इति न मन्त्रपदेन रामकृष्णादिमन्त्रमात्रोपग्रहसंभावनापि अत एव प्रकृतश्लोकं व्याचचाणेन कुल्लूकभट्टेनापि “कर्मणा” मित्यस्य श्रौतस्मार्तकर्मणाम् इति,—यानि हीनानि मन्त्रतः—इत्यस्य च—वेदाध्ययनशून्यानि कुलानि चिप्रमपकर्षं गच्छन्ति’ इत्ययमर्थोऽभिहितो न तु भवदभिमतः प्रतितान्त्रिकोऽर्थ इति न

किंचिदेतत्। न च पूर्वश्लोके वेदानध्ययनेन कुलापकर्ष-स्याख्यातत्वेन द्वितीयेऽवश्यं विलक्षणार्थोयुक्त इति युक्तं मन्त्रपदेन रामकृष्णादिमन्त्रसंग्रहणमिति शङ्क्यम्। वेदानध्ययनपदेन पूर्वत्राधीतवेदानामनावृत्तिर्विस्मृतिर्वा कुलापकर्षहेतुत्वेनाभिमता "तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता" त्वल्पतायां नञः स्मरणात्, कुल्लूकभट्टोऽपि वेदापाठेनेति ब्रुवाणो मेनेऽमुमेवार्थमिति तज्ज्ञा एव विदाङ्कुर्वन्तु उत्तरत्र तु वेदाध्ययनसामान्याभावोऽभिमतः पातित्यहेतुत्वेन, अत एव तु प्रकर्षबोधनाय "कुलान्याशु विनश्यन्ति" इत्याशुभावः कुलाकर्षहेतुत्वेनोक्तः पूर्वं "कुलान्यकुलतां" मित्येन कुलन्यूनतैव, मन्त्रसामान्याभावबुबोधयिषया च यानि हीनानि मन्त्रतः इति हीनपदमुपात्तं सामान्याभावबोधसमर्थनायेति मनुमार्मिकाः। अत एव कुल्लूकभट्टोऽपि "वेदाध्ययनशून्यानि" इति शून्यपदमुपाददान एव व्याचख्याविति न किंचिदपि पाणिपिहितम्। न चेह वेदाध्ययनसामान्याभावस्योत्तरत्र विवक्षितत्वे "अयाज्ययाजनैश्चे"ति न युक्तं वेदाध्ययनविरहे याजनायाः प्रसक्तिविरहेण स्वत एव तद्विरहसिद्धेरिति वाच्यम् न हि याजना केवलं मान्त्रिक्येव यदनधीत्य वेदान् न सा संपादयितुं शक्येति वक्तव्यं किन्तु स्मृतिपुराणादिमन्त्रसाध्यापीति दुर्वृत्तां व्रात्यानां साऽपि न

संपादयितुं युक्तेति तात्पर्यात्। अथवा पृथगेवाधीतवेदानामपि अयाज्ययाजनादिकं प्रत्येकं कुलापकर्षहेतुत्वेन विवक्षितमिति न कश्चिदिह शङ्कातङ्कोऽपि यच्च "यावतो-ग्रसते पिण्डानित्याङ्गिरसवचोऽवष्टम्भदानं तदपि वचोऽर्थानवबोधनिबन्धनमेव सर्वत्र मन्वादिशास्त्रेषु हव्यकव्यादिसंप्रदानतावच्छेदकतया वेदाध्यायित्वस्यैवासकृन्निर्णीतत्वात् तथा हि तृतीयेऽध्याये मनुः॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः। अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्।१२८। एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्। पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि।१२९। दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्। तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ।१३०। सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते। एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः।१३१। ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च। न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः।१३२। यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येषु मन्त्रवित्। तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूल्यृष्ट्ययोगुडान्"।१३३। इति स्फुटतममिहोपक्रमोसंहारासकृदभ्यासादितात्पर्यग्राहकैर्यावद्भिरेव लिङ्गैरक्षरार्थस्वारस्येन, "अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः। अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः।१३६। ज्यायांसमन-

योविंद्याद् यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता। मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति" १३७। इति कण्ठरवेण च मन्त्रपदस्य वेदसामान्यपरत्वमेव मनुरन्वमूमुदन्न तु त्वदुक्तरीत्या प्रतितान्त्रिककतिपयसांकेतिकशिष्यसंवर्धनसंबोधनौपयिकमन्त्रपरतामित्यवहिता एव विजानन्तु। अत एव तु व्यासोऽपि स्वस्मृतौ "ग्रसते यावतः पिण्डान् यस्य वै हविषोऽनृचः ग्रसते तावतः शूलान् गत्वा वैवस्वतालयम्" इति व्यतिरेकमुखेन अधीतवेदत्वमेव हव्यकव्यसंप्रदानतावच्छेदकमित्यबोधयत् तस्मादाङ्गिरसस्मृतिस्थमन्त्रपदेन स्वसांप्रदायिकमन्त्रग्रहणावश्यकताप्रसाधनं स्वशिष्येषु स्वीयमन्त्रग्रहणावश्यकताप्रसाधनवैयग्र्यमेव व्यनक्तीति नाव्यक्तम्। यद्यप्यनैव त एव स्वसांप्रदायिकार्थप्रसाधनसंरम्भेण "न चात्र मन्त्रशब्देन मीमांसकादिप्रसिद्ध्यनुरोधेन वैदिकमन्त्रमात्रं गृह्यत इति शङ्क्यम्। तथा सति ब्राह्मणभागस्यानादरणीयत्वप्रसङ्गात् अथ मन्त्रशब्देन सोऽपि लक्ष्यत इति चेत्तर्ह्यविशेषेण वैष्णवदीक्षामन्त्रा, अपि वेदादिसिद्धाः कुतो न गृह्यन्ते" इति निरूपका अपि निरूपयाञ्चक्रुस्तदप्यनतिसारं, यत्र शिष्टानां मन्त्रा इति व्यवहारस्ते मन्त्रा इत्येवमादिलक्षणेन मीमांसकैर्लिलक्षयिषितानां "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशसपुरोडाशोण्विन्" इति पाणिनीयादितन्त्रे मन्त्रपदेन व्यवहृतानां संहिताऽपरपर्यायवेदैकभागानां मन्त्रपद-

व्यवहार्यत्वप्रसिद्धिसत्त्वेऽपि प्रकृते मन्त्रपदस्य कृत्स्नवेदार्थकतायाः पूर्वोक्तमनूपष्टम्भदानेन समर्थिततया मन्त्रविच्छब्देन वेदविद एव ग्रहीतव्यत्वे प्रतितान्त्रिकमन्त्रार्थकतायाः ब्राह्मणभागाग्रहणशङ्कायास्थानवतारात्, न चात्रत्यमन्त्रपदस्य कृत्स्नवेदार्थकत्वे रामतापनीगोपालतापन्याद्युपनिषत्सिद्धोपदेशानां रामकृष्णादिमन्त्राणां ग्राह्यता सिद्धैवेति सिद्धं नो मनोरथेनेति वाच्यम्, न हि ब्रूमहे रामकृष्णादिमन्त्रा न वैदिका इति, नापि संनह्यामहे न ग्राह्या इति, प्रत्युत परदैवतप्रसादासादनसदुपायत्वेन मोक्षावरवहितोपायांस्तान् मूर्ध्नोपास्महे परन्तु न तेषां गायत्र्या इव द्विजत्वसंपादकतेति ब्रूमः । गायत्र्या हि "सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी" म० अ० २ श्लो० ११८ इति मनुना गायत्र्युपदेशार्हाणां त्रैवर्णिकानामावश्यकत्वं बोध्यते न तथा मन्त्रान्तराणामिति ब्रूमहे यथा हि गायत्र्यनुपदेशे त्रैवर्णिकाः प्रत्यवयन्ति पतन्ति च, न तथा मन्त्रान्तरानुपदेशे ॥

किं च योऽयं मन्त्रान्तराणामावश्यकोपदेशो भवतोऽनुमतः स किं मन्त्रत्वेन ? उत वैदिकमन्त्रत्वेन ? आहोस्विन्मोक्षौपयिकमन्त्रत्वेन ? अथ वा देवतासार्वभौमाराधनहेतुत्वेन ? तत्र प्रथमे मन्त्रपदेन मीमांसकप्रसिद्धिसिद्धम-

न्त्रपरिग्रहे न भवतोऽर्थसिद्धिस्त्वदीयमन्त्राणां तत्रानुपलम्भात्, यदि च मन्त्रपदेन लौकिकतान्त्रिकोभयप्रसिद्धसिद्धमन्त्रपरिजिघृक्षा तदा गारुड़शावरादिमन्त्राणामपि परिग्राह्यत्वमवश्यमापद्येतेति विनायकं प्रकुर्वाणस्य वानररचनैवापादिता स्यात्, स्याच्च मंत्रान्तरापरिग्रहनियमभङ्गभीरुवैष्णवसंप्रदायावमानना । द्वितीयपक्षे वैदिकेषु सर्वेष्वेव मन्त्रेषु भवतोऽयमवश्यग्रहणीयताऽग्रहः ? उत केषुचिदेव ? तत्र प्रथमे वैदिकाः सर्वे मन्त्राः परैर्न गृह्यन्त इति विभिलङ्घनं, मन्त्राणां परस्परविरुद्धसाध्यसाधनानां ग्राह्यताया एकेन वादा असम्भवोऽपि, द्वितीये तु विनिगमकाभावः, कस्य हेतोः केषुचिदेवावश्यकता न सर्वेषु, यद्यशक्यानुष्ठानतयैव न सर्वेष्वाग्रहो वैदिकमन्त्रेषु किन्तु केषुचिदेवेति, तर्हि वैदिकमन्त्रान्तरग्रहणेनापि भवत्प्रतितान्त्रिकार्थसिद्धिरिति मन्त्रान्तरं न ग्रहणीयमिति सिद्धान्तच्युतिः, भवन्मन्त्राणां वैदिकमन्त्रान्तरसाधारण्यप्रसङ्गश्च भवन्मन्त्राऽसाधारण्यभङ्गप्रसञ्जकः प्रसज्येतेति वृद्धिमिच्छतोमूलहानिः । तृतीये तु मोक्षौपयिकमन्त्रत्वं किम् ? मोक्षसाधनमन्त्रत्वमुत मोक्षमुख्योपायसंत्रत्वम् ? तत्र न प्रथमः "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यदि"ति भगवदुक्तरीत्या सर्वेषामेव नित्यनैमित्तिककर्मणां भगवदर्पितानां मोक्षहेतुतायाः स्वयमेव भगवतैवोक्तत्वेन मोक्ष-

साधकतावच्छेदकस्य भगवदर्पणस्य यावन्मन्त्रसाधारण्येन तस्य त्वदीयमन्त्राऽसाधारण्यसाधकताया दुःसंभवत्वात् । नापि मोक्षमुख्योपायत्वं, ज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षहेतुतायाः सर्ववैदिकतन्त्रसिद्धत्वेन मन्त्रविशेषपरिग्रहजन्यातिशयविशेषस्य मोक्षजनकज्ञानविशेष एवोपक्षीणत्वेन तस्य मोक्षेऽन्यथासिद्धतया मोक्षमुख्योपायताया मन्त्रे असंभवात् ॥

किञ्च मन्त्रविशेषजन्यातिशयस्य ज्ञानेन व्रीहियववद्विकल्पो, यागस्यैव प्रयाजानुयाजाभ्यामङ्गाङ्गिभावो, ऽथवा ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिनामिव समुच्चय इति वक्तव्यं। न तत्र प्रथमस्तस्याष्टदोषग्दूषितत्त्वेन असति बलवत्तरप्रमाणे तस्याङ्गीकर्त्तुमशक्यत्वात् । द्वितीये तु मन्त्रज्ञानयोरङ्गाङ्गिभावस्याप्रसिद्धिस्तदङ्गीकारेऽपि वा परोद्देशप्रवृत्तकृतिविषयत्वस्वरूपाङ्गभावोऽवश्यं मन्त्रस्यैव वक्तव्यो मोक्षस्य ज्ञानैकसाध्यतासिद्धान्तसंरक्षणायेति, पूर्वोक्तकल्प इवात्रापि पक्षे तस्यान्तःकरणशुद्ध्यादिहेतुत्वेनैवोपयोगो वाच्य इति न तावता मंत्रस्य मोक्षमुख्योपायत्वसंरक्षणमिति न किञ्चिदेतत् । तृतीये तु मोक्षमुख्योपायतायाः समुच्चयवादिना ज्ञानमन्त्रोभयपर्याप्ताया वक्तव्यत्वेन तदा भवेदवश्यंभावो भव-

ग प्रपञ्चिताश्चाष्टौ दोषाः शुद्धिसर्वस्वे प्रलापप्रमार्जनप्रकरणे दुर्मतदलनमिर्दयैरस्माभिः

मन्त्रग्रहणस्य यदि गायत्र्या मोक्षमुख्योपायताव्याहतिः स्यात्, न च भवन्मन्त्रा गायत्रीं विकल्पयितुं कल्पन्ते इति शक्यते भवता व्याहर्तुमपि, व्याहृतेर्ब्राह्मणसाधकतायाः सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वात् ततश्च गृहीतगायत्रीकाणामलं मन्त्रान्तरग्रहणेनेति भवन्मन्त्रस्य मोक्षमुख्योपायतयाऽपि नावश्यकत्वसिद्धिरिति न पाणिपिहितम्। अथावशिष्टो- देवतासार्वभौमाराधनहेतुत्वेनेति चरमः कल्पस्तत्र यदि मन्मन्त्र एव देवतासार्वभौमाराधनहेतुर्न व्याहृतिमन्त्र इति वदेस्तर्हि तस्या देवतायाः सार्वभौमत्वमेव प्रच्युतं, या देवता न गायत्र्यर्थः, व्याहृतेः परमदेवतार्थकत्वं ह्यविवादपदमिति, यैव परमा देवता भवतोऽभिमता विष्णुः शिवः शक्तिर्गणेशो गौरी गुहः सूर्यो वा तस्य गायत्र्यर्थता वक्तव्यैवेति नान्यावशिष्यते काचिद्देवता परमा यामाराधयितुं मन्त्रान्तरग्रहणमावश्यकमिति वक्तुं पारयेः। तस्मादद्वैतविशिष्टाद्वैतनिर्विशेषाद्वैतशुद्धाद्वैतभेदवादभेदाभेदवादादियावत्प्रतितान्त्रिकवैदिकमार्गेषु गायत्र्याः परमपुरुषाराधनहेतुताया आवश्यकत्वान्नेहाणुरपि मार्गो येन गायत्र्यतिरिक्तमन्त्रान्तरग्रहणावश्यकतासिद्धिः॥

यदपि स्वीयदीक्षाग्रहणावश्यकतासाधनक्लिश्यमानसानाम् "अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वमनर्थकम्। पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो नरो मृतः॥ विना श्रीवैष्णवीं दीक्षां

प्रसादं सद्गुरोर्विना। विना श्रीवैष्णवं धर्मं कथं भागवतोभवेदि" त्यादिपाद्मोत्तरखण्डवाक्यान्युदाहृत्य स्वीयमन्त्रग्रहणावश्यकताप्रसाधनं तदपि गगने पादप्रसारणम्। दीक्षाशब्दो हि न भवदभिमतार्थकः किन्तु "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" श्लो० २९ इति षष्ठे ६ मनूक्तरीत्या वैदिकनियमपरस्तत्र वैदिकनियमहीनस्य पुरुषस्यानुष्ठितं सर्वमफलमिति तदर्थ इति न तेन तेऽभिमतार्थसिद्धिरिति बालसंमोहनमात्रमिदम्। अस्तु च तन्त्रोक्तरीत्या दीक्षाशब्दस्य मन्त्रार्थकत्वमस्तु वा वैष्णवदीक्षाया आवश्यकत्वं तावतापि किं गायत्रीमन्त्रो न दीक्षाशब्दार्थो येन मन्त्रान्तरं ततः सिध्येत्। सिध्यतु वा मन्त्रान्तरग्रहणस्यावश्यकता न तावता सा ब्राह्मणत्वावच्छेदेन त्रैवर्णिकत्वाद्यवच्छेदेन वा किन्तु यथाधिकारमिति न्यरूपयमेव पूर्वमधिकं चाग्रे व्यक्तीभविष्यति वस्तुतस्तु निरुक्तपाद्मवचनयोरदीक्षितस्य पशुदेहाद्यवाप्तिर्न यत्किञ्चिद्दीक्षाशून्यत्वेऽभिमता "अन्यथा तु हरेर्नाम न गृह्णीयान्न स्पृशेत्तुलसीदलमि"ति "मत्स्यो येन न खादितो न चणको मांसं च नो भक्षितम्। कन्यया येन न पूजिता रतिसुखे पीतं न मद्यं तृषा पुत्री येन सहोदरा न गमिता शय्यां रतौ"। इत्यादिप्रसिद्धप्रवादानां सर्वयोषिदुपशग्राहकाणां वामाचाराणां न हरिमन्त्रग्रहणसम्भवो नाऽपि ह-

रिमन्त्रोपासकानां तुलसीनलिनाक्षधारिणामानासमूर्द्ध-पुण्ड्राणाम्। "हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा" "मातृवत्पर-दारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्। आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" इति शश्वदुपासीनानां हरिनाममन्त्रजुषामथ सर्वथापञ्चमकारपराङ्मुखानां न वाममन्त्रग्रहसम्भावनेति न सर्वस्य सर्वदीक्षाग्रहसम्भव इत्यवश्यं पाञ्चस्यादीक्षितश-ब्दस्य दीक्षासामान्यविरहवदर्थकतैव वक्तव्येति नास्माकं तत्र विप्रतिपत्तिः, प्रत्युत तत्तन्मन्त्राधिकारिणां तत्तन्मन्त्रा-ग्रहणे सर्वथैव व्रात्यतेत्युक्तप्रायमेव, अत एव त्वत्र "विना श्रीवैष्णवीं दीक्षां कथं भागवतो भवे" दित्येवोक्तं न तु तत्राब्राह्मण्यं व्रात्यता वा ऽभिहिता, एष परं विशेषो यद्-यूयं परमं पवित्रं वेदस्य रहस्यस्वरूपं परदैवतप्रतिपादनै-कसारं ब्राह्मणसर्वस्वं गायत्रीमन्त्रं भागवततासाधनं न मनुध्वे किन्तु सामान्यतोब्राह्मण्यसंपादकतां द्विजत्वसाधक-तां वा तस्यावगत्य मन्त्रान्तरग्रहणे लालायिता भवथ, वयं तु तमेव गायत्रीमन्त्रं तदुपदेशाधिकारिणां सर्वस्वस्वरूपम-वधार्य तत्रैव धृतैहलौकिकपारलौकिकभराः सुखमास्महे, ये तु न तदुपदेशाधिकारिणस्ते पुनरुपदेष्टव्याः स्वस्वोप-देश्यपौराणिकतान्त्रिकतत्तन्मन्त्रजातमिति तु व्यवातिष्ठि-पमेव पूर्वमिति तत एवावधेयम्। "अवैष्णवस्तु यो विप्र-

श्चाण्डालादधमः स्मृतः। न तेन सह भोक्तव्यमापद्यपि कदाचन" इत्येवमादिपौराणिकवचनस्य प्रामाण्ये अवैष्णवपदेन परदैवतविमुखो ग्रामाद्यधिवासिदेवतार्चनरतो, नास्तिक एव वाऽभिमतः, अत एव "विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः" इति श्रीमद्भागवतेऽपि भगवत्पादपराङ्मुखस्यैवाधमत्वमावेदितमत एव भगवानपि गीतासु, "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः" इति प्राह। श्रुतिरपि च "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा" इत्यात्मतत्त्वविपर्ययवत एव सर्वपापानुष्ठायित्वलक्षणचाण्डालत्वादिकमावेदयतीति नेह चाण्डालपदेन गायत्र्यतिरिक्तागमदीक्षाशून्यो रामकृष्णादिमन्त्रदीक्षाशून्योवा गृहीतगायत्रीकोऽपि पङ्क्तिपावनो ब्राह्मण इति भ्रमितव्यमिति शास्त्रमर्मविदामुद्घोषः॥

इति गायत्र्यतिरिक्तवैष्णवदीक्षाशून्यस्य गायत्रीग्रहणाराधितदेवतासार्वभौमस्यापि चाण्डालादिसाम्यसंकीर्त्तनं गायत्रीमन्त्रे सामान्यमन्त्रताभ्रमवतां धन्यतमानां निष्पीड़ितसर्वशास्त्रार्थानामिव शोभतां न तु प्रामाणिकानामिति सारम्॥

यदप्याहुरपरे—इतिहासपुराणतन्त्रमन्त्रादिशास्त्रेषु देवद्विजर्षिब्रह्मर्षिराजर्षियचरचःपिशाचपर्यन्तानां मान्त्रिकसिद्धेः प्रसिद्धतया गायत्रीव्यतिरिक्तमन्त्रग्रहणनिराकरणसंनाहो न युज्यते शास्त्रप्रामाण्यमङ्गीकुर्वतामिति तत्पुनः शास्त्रावबोधवैधुर्यनिबन्धनमस्मदुक्तार्थाग्रहणनिबन्धनं च न हि ब्रूमहे गायत्रीव्यतिरिक्ता मन्त्रा न सन्ति, नापि—न ग्राह्या इति, नापि देवद्विजर्षिभिर्नाग्राहिषतेति किन्तु तदग्रहणे न प्रत्यवायो नापि ब्राह्मण्यादिवैकल्यं मोक्षाप्यनवाप्ति र्वा इति शास्त्रतात्पर्यमिति ।

या च मन्त्रान्तरग्रहणे प्रवृत्तिः प्रामाणिकानां सा पुनरर्थार्थितया कामार्थितया, अनर्थार्थितया वेति कथं सा गायत्रीव्यतिरिक्तमन्त्रस्यावश्यग्रहणीयतामापादयेन्न हि कमनीयांकान्तां कामुकः कथमपि मोक्षपथमुपाश्रयते, नापि मोक्षमिच्छन् कमनीयकान्तासादनपथम् । अत एव "यो यत्कामः स तत्र प्रवर्तते" इति लौकिकाभाणकमपि । तस्मात्तत्तदर्थिनां देवद्विजर्षीणां तत्तन्मन्त्रग्रहणप्रवृत्तिर्नातदर्थानां तत्तन्मन्त्रग्रहणप्रवृत्त्यौपयिकीत्यकिंचिदेतत् । न चैषोऽपि नियमो गृहीतगायत्रीकेण कामवञ्चितचेतसा चैत्रेण शवमन्त्रं शावरमन्त्रमाराध्य वा समृद्धिं नीताः सिद्धय इति परेणापि तास्तथैव संपादनीया इति, केषांचिन्महात्मनां गायत्रीमन्त्रमात्राराधनेन पुरुषार्थचतुष्टयावाप्तेरितिहासपुराणादिषु

प्रसिद्धेः, न हि सेतिहासानष्टादश पुराणानि निर्मायाप्यकृततार्थ न चाप शान्तिं पुराणाचार्यः कृष्णद्वैपायनः स्वयमेवेति, नेतिहासपुराणानां मोक्षौपयिकत्वं शान्त्यवाप्तिहेतुत्वंवेत्युक्तं चन्तेऽपि प्रामाणिकाः, पुराणस्थैकैकोपाख्यानश्रवणमात्रेण बहूनां मोक्षौपयिकशान्त्यादिलाभस्य पुराणेष्वेव प्रसिद्धेः, अधुनाऽपि तच्छ्रवणेन परमपुरुषार्थावाप्तेः शीलशान्त्यादिलाभस्य च विदुषामानुभविकत्वेन तस्य तद्धेतुताया दुरपन्हवत्वाच्च कृष्णद्वैपायनस्य त्वाधिकारिकपुरुषत्वेन स्वाधिकारपरिप्राप्तकर्मसाधनाय पुराणरत्नस्य श्रीमद्भागवतस्य प्रणयनं, तदप्रणयने शान्त्यलाभसंदर्शनं चोपपद्यते, शुच्यते च शुकवैराग्येण शोकाकुलमानसत्व, मग्नत्वोत्पादनं च प्रचेते । इत्याधिकारिकपुंसां केषांचिद्गृहीतगायत्रीकाणां तत्तदर्थमर्थयमानानां मन्वान्तरग्रहणं न त्रैवर्णिकानां मन्वान्तरग्रहणनित्यतासाधनायालम् । अत एव तु चतुरोऽपि वेदानधीत्य शाण्डिल्यो नाप निष्ठां शान्तिं वेति गुरुमुपससाद उवाच च "अधीत्य चतुरोऽपि वेदान् भगवो नाप निष्ठां शान्तिं वा सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि नार्थविद् शाधि मामि"ति, स च गुरुर्भगवान् सनत्कुमारस्तमुपदिदेश इत्यैतिह्यासिका वर्णयाञ्चक्रुः, न चैतावता वेदचतुष्टयस्य निष्ठाप्राप्तिहेतुता नास्तीति सिध्यति किन्तु "न हि निन्दान्यायेन पञ्चरात्रतन्त्रस्य वेदार्थसारगर्भितत्वं फलति

ततश्च यथा वेदचतुष्टयमधीत्यापि सारासारविवेचनाय पञ्चरात्रतन्त्रसंप्रदायप्रचाराय वेदार्थस्यानायासेन निस्संशयज्ञानसंपादनाय च भगवान् शाण्डिल्योऽध्यगीष्ट पञ्चरात्रतन्त्रं प्रचारयामास च वेदानधिकारिणोऽपि कर्मोपास्तिज्ञानकाण्डेषु निर्विचिकित्सं व्युत्पादयन्निति न तस्य पार्श्वगर्थ्यं वेदविरुद्धत्वं वा किन्तु "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा † कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह" इति श्रीभागवतोक्तरीत्या स्त्रीशूद्रादिसाधारण्येन भक्तिप्रपत्त्यादिमार्गसंदर्शनेन तत्तन्मन्त्रतन्त्रादिशास्त्रेषु वेदानधिकारिणोऽनुगृह्यन्ते न तु तेषामावश्यकत्वमपि त्रैवर्णिकत्वावच्छेदेन बोध्यत इत्यलमितेनावैदिकैमासदर्थपरित्राणकृपाणपरिग्रहविग्रहेणेति शम् ॥

यदपि काशीखण्डे एकोनविंशतितमे ऽध्याये विमात्टविमाननाकषायितचित्तेन "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीस्तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्" ॥ इति श्रीमद्भागवतोक्तरीत्या सर्वकामेन "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी

† सर्वभागवतपुस्तकेषु "त्रयी न श्रुतिगोचरा" इति पाठसत्त्वेऽपि न श्रुतिगोचर इत्येव युक्तः पाठ इति पाठापपाठज्ञाः ।

च भरतर्षभ" ! ॥ इति चतुर्विधभक्तेषु आर्तार्थार्थिलक्षणाक्रान्तेन ध्रुवेण द्वादशाक्षरमन्त्रः सप्तर्षिप्रसादादवाप्त इति मन्त्रान्तरग्रहणावश्यकताप्रसाधनं । तदपि मन्दधियामेव मोहमावहेत्, यतो दुरभिमानदूषितचेतसा ध्रुवेण भागवतोत्तमेनापि बालभावसुलभचापलेनावलेपादैहिककामान् कामुकेन मन्त्रो गृहीत" इति न तस्याऽकामपुरुषसाधारण्येनावश्यकताप्रसाधनपर्याप्तिः, अत एव तत्र काशीखण्डे ऋषीन् संबोध्य ध्रुवः "पित्रोत्सृष्टं न काङ्क्षामि काङ्क्षामि स्वभुजार्जितम् । मनोरथपथातीतं भवेद् यत्पितुरप्यहो ॥ पितृसंपत्तिभोक्तारः प्रायशो न यशोधनाः । नरोत्तमास्तु ते ज्ञेया ये पित्राधिक्यदर्शिनः ॥ उपार्जितं हि पित्रा ये नाश्रयन्ति यशः श्रुतम् । धनं निधनमेवास्तु तेषां दुर्वृत्तचेतसाम् ॥ इत्यभिमानपुरस्सरमवोचत् इत्यगृहीतगायत्रीकस्य पञ्चवार्षिकस्य गायत्रीग्रहणानधिकारिणः क्षत्रियबालकस्यौत्तानपादेर्ध्रुवस्य मन्त्रान्तरग्रहणं नावधीरणाय गायत्र्याः, नापि ध्रौव्याय मन्त्रान्तरग्रहणस्येति शास्त्रतत्त्वविदां विदुषां परामर्शः ॥

यदपि धर्मशास्त्रग्रन्थेषु प्रात्यहिककर्मनिरूपणावसरे दैवपञ्चकपूजनस्यावश्यकतयोदितत्वेन पूजनेतिकर्त्तव्यताप्रकाराजानतया परिप्राप्तोपदेशस्य तत्तद्दैवतानूलमन्त्रग्रहणस्यावश्यकतया तस्य च "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति

श्रुतिसिद्धो गुर्वंवधिकाधिगमोपि पुनरुपदेशसाध्यातिशय-संपादनाय नित्य इति गायत्र्यतिरिक्तमन्त्रान्तरग्रहणं नित्यं त्रैवर्णिकानां गृहस्थानाम्। किञ्च माण्डूक्योपनिषदः सर्वस्या अपि प्रणवपरतया, ईश्वरप्रणिधानाद्वा। १। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। २। स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। ३। तस्य वाचकः प्रणवः। ४। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ५। इति पातञ्जलसूत्रपञ्चकस्यापि गायत्र्यतिरिक्तप्रणवोपासनविधानपरतया मन्त्रान्तरग्रहणमावश्यकं, देखो योगसूत्रे द्वितीयपादे "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" इति सूत्रं व्याचक्षाणः कृष्णद्वैपायनोऽपि "स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनम्" इति वदन् ददौ मन्त्रान्तरग्रहणावकाशमिति स्फुटम्, चतुर्थपादेऽपि च "जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाःसिद्धय" "इति सूत्रे भाष्यकारः "मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः"। इति व्याचख्यौ अत्र मन्त्रैरिति बहुवचनमहिम्ना मन्त्रान्तरपरिग्रहपक्षोऽनुलक्ष्यते, इतिहासपुराणेषु तु क्रियासमभिहारेण मन्त्रान्तरपरिग्रहप्रतिपादनं, यथा भारते वनपर्वणि व्यासोऽर्जुनमुपदिदेश ऐन्द्रं मन्त्रं, तत इन्द्रः शैवं मन्त्रमिति सुस्पष्टं गृहीतगायत्रीकाणामपि मन्त्रान्तरग्रहणमावश्यकमिति तदप्येतद्गतानुगतिको लोको न लोक

इति न्यायार्थमेवानुसरति न तु शास्त्रार्थं, तथाहि "मन्त्रै-र्वैष्णवरौद्रैस्तु सावित्रैः शाक्तिकैस्तथा। विष्णुं प्रजापतिं वाऽपि शिवं वा भास्करं तथा॥ तल्लिङ्गैरर्चयेन्मन्त्रैः सर्व-देवान् समाहितः" इत्याग्नेयपुराणोक्तरीत्या, "ब्रह्माणं श-ङ्करं सूर्यं तथैव मधुसूदनम्। अन्यांश्चाभिमतान् देवान् भक्त्या चाक्रोधनो ऽत्वरः॥ स्वैर्मन्त्रैरर्चयेन्नित्यं पत्रैः पुष्पै-स्तथाऽम्बुभिः" इति कूर्मपुराणोक्तरीत्या वा पञ्चदेवतार्चन-विधौ वैदिकैः शैववैष्णवादिसूक्तैस्तत्तद्देव पूजनस्योदितत्वे न तेषां च सूक्तानां "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यध्ययनविधिसि-द्धाध्ययनस्यावश्यकतया अध्ययनसिद्धोपदेशतया न गाय-त्र्या इव तेषां पृथगुपदेशार्हतासिद्धिः। अथवा तत्तल्लिङ्ग-मन्त्रपदेन यथा कथञ्चिदपि तत्तद्देवानुस्मारकपदघटित-मन्त्रपरिग्रहो यथा "शन्नोदेवीरभिष्टय" इत्यादीनां शनि-पूजोपयोगित्वम्। अथवा "प्रणवादिनमोऽन्तं च चतुर्थ्यन्तं च सत्तम! देवतायाः स्वकं नाम मूलमन्त्र उदाहृतः॥ इति गारुडोक्तरीत्या नमोऽन्तमन्त्र एव मूलमन्त्र इति न तस्य पार्थक्येनोपदेशसिद्धिरिति त्रैवर्णिकगृहस्थकर्तृकतत्त-न्मूलमन्त्रपूर्वकपञ्चदेवपूजनविध्यन्यथाऽनुपपत्तिपरिग्राहि-तो मन्त्रान्तरपरिग्रहो नित्यस्त्रैवर्णिकानामिति दुराशा-मात्रं, यदि तु "पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ। भ्राजते न सभा मध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः" इति पराश-

रमाधवधृतनारदवचनेन पुस्तकप्रत्ययाधीतस्यातिशयानाधायकत्ववचनेन मन्त्रस्य गुर्ववधिकाधिगमो नित्य इति नमोऽन्तगारुड़मन्त्रस्य वैदिकस्य तत्तत्सूक्तादेर्दैवानुस्मारकपदघटितवैदिकमन्त्रस्य वा ग्रहणं गुरोरावश्यकमिति सिद्धं मन्त्रान्तरग्रहणनित्यतयेत्युच्यते तदा त्रैवर्णिकानां गर्भाधानादिसंस्कारस्याप्यावश्यकत्वेन गर्भाधानौपयिकस्य जायागुह्यमुपस्पृश्य पठ्यमानस्य "गर्भं धेहि सिनीवालि ! गर्भं धेहि सरस्वति" ! इति मन्त्रस्याप्यनधीतस्य लिखितवाचितस्य अनध्यापितश्रुतगृहीतस्य वा अतिशयानुत्पादकतया तस्याप्युपदेश आवश्यक इति को वा विशेषस्त्वदीये मूलमन्त्रे, यदि तु गर्भाधानमन्त्रस्यापि भवत्येवोपदेश इति ब्रूषे तर्हि तादृशोपदेशविषयतां को वा प्रत्याचष्टे मन्त्रान्तरस्य, यथा हि स्वाध्यायसंस्कृतवेदानामेव कर्मौपयिकत्वमयथाभूतानां त्वनुपयोग एव एवं सर्वेषामपि मन्त्राणां गृहीतानामेवातिशयाधायकत्वमयथाभूतानां तु वैयर्थ्यमित्यङ्गीकुर्म एव, न च तावता गर्भाधानमन्त्रापेक्षया कश्चिदतिशयो मूलमन्त्रे सुनिरूपो भवता, येन तमतिशयं पुरस्कृत्य मूलमन्त्रोपदेशो नित्यस्त्रैवर्णिकानामिति वक्तुं पारयेः । यच्चाधुनिकानां महासमारोहो मन्त्रान्तरग्रहणे स तु युक्त एव यदि गायत्रीग्रहणाजधिकारो ऽथवा लौकिकविषयाप्तिपर्याकुलता, अत एव लौकिकाः "कलौ चण्डी-

विनायकौ" इति स्मरन्तो विस्मरन्तश्च "देवान् देवयजो-यान्ति यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्, तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्" इति भागवतीं गीतां विशन्त्येव तेषु तेषु संकीर्णेषु मांसाशनसुराऽऽसवव्यसनसमादेशनपरायणेषु वामादिकुवर्त्मसु इति न ततः परीक्षकाश्वशवन्ते वैदिकाध्वगा इति पूर्वमसकृन्निरूपितप्रायमेवेत्यकिञ्चिदेतत्। यदपि माण्डूक्योपनिषदः प्रणवोपासनविधायकतया योगसूत्राणां तदर्थोपष्टम्भकतया च तत्तत्व्यासभाष्यस्य प्रणवादिपवित्रमन्त्रानुष्ठानबोधकतया मोक्षशास्त्राध्ययनबोधकतया च मन्त्रान्तरग्रहणनित्यतापक्षसमर्थनं, तदपि मरुमरीचिकासु तोयसमासादनप्रयत्नायितम्। न हि ततस्तदर्थसिद्धिस्तानि हि मोक्षशास्त्राणि मुमुक्षूनुपलक्ष्य प्रवृत्तानि तदधिकारपरिप्राप्तोपायपराण्येवेति न तदुपदिष्टोपायस्य त्रैवर्णिकत्वावच्छेदेन नित्यतासिद्धिः, अन्यथा तु "प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन" इति नवमेऽध्याये। श्लो० २६ स्त्रीप्रेमबन्धनविधानस्य ब्रह्मचारिणां यतीनां चावश्यकत्वोत्कीर्तने साधु धर्मपादपपादे स्वाज्ञानाङ्गारनिक्षेपः। धर्मो हि वर्णाश्रमाधिकारिप्रविभागभिन्नो यमुद्दिश्य यथाऽभिहितस्तेनैव उपासितो निःश्रेयसायापरस्य तु निरयायेति त्रिवर्गसेवनसमासक्तचित्तानां चतुर्थाविरोध्याचारस्यानुष्ठा-

तुमावश्यकत्वेऽपि न यतिधर्मोपासनावश्यकतेति न किञ्चिदेतत्। "यदपि मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः" इति व्यासभाष्यस्थेन "मन्त्रैः" इति बहुवचनेन त्रैवर्णिकानां मन्त्रान्तरग्रहणावश्यकताप्रसाधनं तत्तु कर्णस्पर्शं कटिचालनायितं, यतो गायत्र्यतिरिक्तो मन्त्रः कश्चन भवेद्वा नित्यस्त्रैवर्णिकानामिति प्रश्ने गरिमाऽणिमादिलाभप्रयोजकीभूतमन्त्रस्य तदेककामनावत्पुरुषपरिग्राह्यस्य उपादेयत्वख्यापनेन गायत्र्यतिरिक्तमन्त्रस्य नित्यत्वाम्नानमत्यन्तमसंबद्धं तस्माद् यो हि अणिमानं प्रेप्सति यश्च खे यथेच्छं विहर्तुमिच्छति तेन यो मन्त्र उपादेयः स त्रैवर्णिकत्वावच्छेदेन नित्य इतिवदनुपहसनीयो भवान् गरिष्ठगोष्ठीष्विति पूतिकूष्माण्डायितस्ते मन्त्रान्तरग्रहणावश्यकतासाधनसंनाह इति कृतं वाचां विसर्गेण। यदपीतिहासपुराणेषु बहुशो दीक्षाग्रहणमुपवर्ण्यते यथा महाभारते वनपर्वणि व्यासोऽर्जुनमैन्द्रमुपदिदेश मन्त्रमिन्द्रस्य शैवं मन्त्रमिति गायत्रीव्यतिरिक्तमन्त्रदीक्षानित्यत्वसाधनं तत्तु विनायकं प्रकुर्वाणस्य वानररचनायितमेव, केवलं तथा हि वनपर्वणि अध्याये ३६ तमे "तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम्। अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ॥२८॥ श्रेयांस्ते परमः कालः प्राप्तो भरतसत्तम। येनाभिभविता शत्रून् रणे पार्थो धनञ्जयः ॥२९। गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं

मूर्तिमतीमिव। विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥३०॥ यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ॥ अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु ॥ ३१ ॥ वरुणं च कुवेरं च धर्मराजं च पाण्डव!। शक्तोह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥ ३२। ऋषिरेव महातेजा नारायणसहायवान्। पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः ॥ ३३ ॥ अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च समादाय महाबाहुर्महत्कर्म करिष्यति ॥ ३४ ॥ एवं व्यासेन युधिष्ठिरोऽभिहितः, ततश्च व्यासान्महर्षेः शत्रुपराजयौपयिकं मन्त्रमुपगृह्य युधिष्ठिरो द्वैतवनात्काम्यकं ययौ तत्र चार्जुनं स्नेहेनोपदिदेश युधिष्ठिरोव्यासप्रसादासादितं मन्त्रं, स च मन्त्रो न नित्यस्त्रैवर्णिकानां नापि क्षत्रियाणां किन्तु काम्य एवेति न तद्दृष्टान्तेन गायत्र्यतिरिक्तदीक्षानित्यत्वसिद्धिः। अर्जुनोपदिष्टस्य मन्त्रस्य शिवेनोपदिष्टस्य च काम्यत्वे वनपर्वभारतप्रकरणं सर्वमेवानुग्राहकम्। अत एव युधिष्ठिरान्मन्त्रमुपगृह्य इन्द्रं द्रष्टुं प्रतिष्ठमाने फाल्गुने कृष्णा "यत्ते कुन्ती महाबाहो। जातस्यैच्छद्धनञ्जय!। तत्तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय! यथा च स्वयमिच्छसि" इति स्फुटमेवारिविजयं प्रयोजनं शशंस सर्वेणाप्यनेन ऐन्द्रशैवादिदीक्षाग्रहणपरिकरेणेति स्फुटमेव भारततत्त्वविदाम्। अत एव तु "ईप्सितोह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे। त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमि-

च्छामि वेदितुम्। इत्यर्जुनो ब्राह्मणवेषमिन्द्रं प्रार्थयत। ब्राह्मणवेष इन्द्रोऽपि "यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम्। तदा दातास्मि ते तात! दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः" इत्युदतरत्,तस्मादर्जुनगृहीततत्तन्मन्त्राणामतिस्फुटेकास्यत्वे अर्जुनमन्त्रग्रहणदृष्टान्तेन त्रैवर्णिकानां मन्त्रान्तरग्रहणनित्यतासमर्थनमनर्थज्ञतानिबन्धनमेवेति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु॥

तदेवं गायत्रीमन्त्रमात्रग्रहणावश्यकतां ब्राह्मणादेर्व्यवस्थाप्य कीदृशो गुरुरिति गुरुलक्षणस्यावश्यकतया तदेव मीमांस्यते तत्र "गुकारोऽन्धं तमः प्रोक्तं रुकारस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते" इति स्मृत्यभिमतः सत्संतानप्रसूतः सदाचारात्मगुणोपेतः श्रोत्रियस्त्रेधा विशुद्धः कृतपत्नीपरिग्रहो विद्यमानदार आहिताग्निः, नैष्ठिकोपकुर्वाणादिभेदभिन्नब्रह्मचर्याश्रमी वा, एतादृशस्य च गुरोरलाभे, यथासम्भवसम्भवद्गुणो गुरूकरणीयो न तु कथञ्चिदप्यगृहस्थो यतिवानप्रस्थादिः, यथोक्तं ताराकल्पे "पितुर्दीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः। अनाश्रमाणां या दीक्षा सा दीक्षा दुःखदायिनी"॥ इति, अत्र यतिपदेन क्षपणकश्रावकादियतयो गृह्यन्ते न तु वैदिका न्यासिन इति तु दुर्व्यवसितमेव, दूरतः परिहार्याणां क्षपणकश्रावकादीनां गुरूकरणाप्रसक्त्या तन्निषेधस्याभुक्तवान्ततापत्तेः। न च "नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः" इत्यादीनामिव नित्यानुवा-

दीऽयमिति भ्रमितव्यम्। अत्र सा दीक्षा दुःखदायिनीत्य-नेन यतिदीक्षाया दुःखहेतुत्वाभिधानेन विपरीतफलाम्नानात्। न हि नभोऽग्निचयनस्याप्यसम्भवदुत्पत्तिकस्य विपरीतफलश्रुतिः, किंचास्मच्छास्त्रेषु यत्र कुत्रापि ज्यौतिषफलग्रन्थेषु क्षपणकश्रावकाद्युत्कीर्तनं तत्र विप्रिष्वेव न तु सामान्यतीयतिपदेनेति तथाऽभिधानं शास्त्रशैलीशीलनशालिनामयुक्तमेव। एतेन महाभारते उद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रेण विदुरेण च सनकादीनां गुरूकरणनिरूपणात्, पञ्चरात्रतन्त्रे सनकादिभिर्नारदायापि भगवन्मन्त्रतत्कवचादिदानश्रवणात्, नारदस्य व्यासाय भगवन्मन्त्रदानस्य पुराणेषु ब्रह्मवैवर्तादिषु, नारदपञ्चरात्रे च श्रवणात्, श्रीमद्भागवतेऽपि ध्रुवे नारदस्य उपदेशलक्षणगुरुतरगुरुव्यापारश्रवणात् द्वादशाक्षरमन्त्रदानस्य प्रसिद्धेश्च पत्नीरहितानामपि दीक्षादानाधिकार इति निरस्तम्, न हि सनकनारदादयः पत्नीरहिता इत्युपदेशाधिकारिणः किन्तु ब्रह्मचारिण इति, तेषां च पत्नीराहित्यमावश्यकमेवेति न तद्दृष्टान्तेन पत्नीरहितानां गृहस्थानामप्युपदेशाधिकारितासिद्धिः॥

अथेदमालोचनीयम्। किमिह पत्नीराहित्यं मन्त्रदातृतावच्छेदककुक्षिनिक्षिप्तम्? उत सहकारि? आहोस्विदुदासीनं? तत्र पत्नीराहित्यस्य न मन्त्रदातृतावच्छेदककुक्षिनिक्षेपसम्भवः, शास्त्रविरोधात्, युक्तिपथाती-

तत्वाच्च न हि पत्नीरहितानां सनकनारदादीनामुपदेष्टृता श्रूयत इति पत्नीराहित्यं तावता मन्त्रदानौपयिकमिति वक्तुं युक्तमन्यथा प्रभेयत्वावच्छिन्नानां सनकादीनामुपदेष्टृत्वमिति प्रमेयत्वावच्छिन्नस्य शूद्रस्याप्युपदेशकर्तृता सिध्येत् तदवश्यं पत्नीराहित्यादिकमकिञ्चित्करमुदासीनमिति पूर्वोक्तविशुद्धमातापितृजत्वात्मगुणोपेतत्वादिसमानाधिकरणब्रह्मचर्यवत्त्वमेवोपदेशदानार्हतावच्छेदकमिति सनकादिदृष्टान्तेन पत्नीराहित्यस्य न मन्त्रदानार्हतावच्छेदककुक्षिनिक्षेपसम्भवः। न च पत्नीराहित्यस्येव पत्नीसाहित्यमपि पुनरुदासीनमेव मन्त्रदानार्हतायामिति साम्प्रतम्। गृहस्थस्योपदेशकर्तृत्वे मन्त्रदातृतावच्छेदककुक्षौ "अनाश्रमाणां या दीक्षा सा दीक्षादुःखदायिनी" त्यनेनानाश्रमिदीक्षाया दुःखहेतुत्वावगमेन आश्रमित्वसंरक्षणाय विद्यमानदारत्वनिक्षेपस्यावश्यकत्वात्। यद्यप्यग्निहोत्रस्येव न पत्नीव्यासक्तकर्तृताकं मन्त्रदानं पत्न्यास्तत्राग्निहोत्रे आज्यावेक्षणे इव मन्त्रदाने कथमप्यनुपकारितया तत्सत्त्वानावश्यकत्वात् तथापि अनुपकुर्वाणाया अपि पत्न्याः पत्यौ निरुक्तवचोबलेन मन्त्रदानौपयिकातिशयाधानहेतुत्वमावश्यकमिति गृहस्थकर्तृकमन्त्रोपदेशे पत्नीसाहित्यमुदासीनमित्यनिपुणभणितिः। नापि पत्नीराहित्यं मन्त्रोपदेशे सहकारि, अरुन्धतीसहायस्य वसिष्ठस्य महर्षेः रघुकुलधौरेये

जगन्मर्यादाव्यवस्थापके श्रीरामचन्द्रे मन्त्रोपदेष्टृत्वदर्शनात्, तदीयोपदेशस्य साफल्यं च लोकद्वयसुप्रसिद्धमित्यविवादपदम्। सहकारित्वं हि तदवच्छिन्नासमवधानप्रयुक्तफलोपधायकत्वाभाववत्त्वावच्छिन्नकत्वं यथा बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वे स्वधर्मिकाप्रामाण्यग्रहविरहः सहकारी, अप्रामाण्यग्रहविरहासमवधाने तस्य बाधकताविरहात्, ततश्च पत्नीराहित्यं मन्त्रदानार्हतायां सहकारीत्यत्यन्तमनिपुणमिति पुष्कलम्॥

यद्युदासीनं मन्त्रदानार्हतायां पत्नीराहित्यं तर्हि न तत्र तस्य प्रयोजकत्वसंगतिरिति ब्रह्मचर्यवतां पत्नीपरिग्रहशून्यानामधिकारसिद्धि गृहस्थानां तु विद्यमानपत्नीकानामेव न तूढानामपि विधुराणां, यथाह प्रजापतिर्निजस्मृतौ "अप्रजो मृतपत्नीकः सर्वकर्मसु गर्हितः। छन्दो विनापि न स्थेयं दिनमेकं विनाश्रमम्" अत्राप्रजस्कस्य मृतपत्नीकस्य च पृथगनधिकार इति नार्थः। किन्तु मृतपत्नीको यद्यप्रजस्कस्तदा तस्य नाधिकारो यदि तु विद्यमानप्रजस्तदा तु मृतपत्नीकोऽपि पत्न्यव्यासक्तकर्तृताके श्राद्धभोजनादावधिकुरुते इति तदर्थः, अत एव "यो ऽभार्यः सन् बलं चेतः संयन्ता विधुरो भवेत्। क्रियापरः श्रुतेर्वेत्ता श्राद्धे वै भोजयेत्पितुः"॥ "श्रुतिज्ञं कुलजं शान्तं प्रज्ञावन्तं जितेन्द्रियम्। मृतभार्यमपि श्राद्धे भोजयेदविशङ्कितः" इत्यादिना प्रजा-

मतिस्मृतौ जितेन्द्रियस्य प्रजावतः कुलजस्य शान्तस्य विधुरस्यापि श्राद्धभोजनाधिकारित्वमभिहितम् । अत्र विधुरस्यापि शीलशालिनः श्राद्धभोजनाधिकारित्वन्यायेन मन्त्रदानाधिकारित्वमपि सिध्यतीति केचित् । तदपरे अनाश्रमिदीक्षायाः पूर्वोक्तवचनेन निषिद्धतया न क्षमन्ते । अपरे च स्नानसंध्यास्वाध्यायतर्पणदानाधिकारिणां विधुराणां दानत्वाविशेषेण दीक्षादानाधिकारित्वमप्यनुमन्यन्ते ॥

मच्छिष्यास्तु "यस्य पुत्राः सदाचाराः श्रुतिज्ञा धर्मसंमुखाः । पितृभक्तिरता दान्ता न वैधव्यं मृतस्त्रियि" इति स्मार्तवचोबलेन निरुक्तगुणशालिनो वैधुर्यनिबन्धनानधिकारित्वाभावावगमेन वर्तमानशिष्टाचारेण च अस्त्येव मन्त्रदानाधिकारितेत्याचक्षते, तदेतदप्यापातरमणीयमेव "अनाश्रमाणां या दीक्षे" त्यनेन विशिष्यानधिकारित्वाभिधाने "न वैधव्यं मृतस्त्रियी' त्यनेन । "अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः" । "अप्रजो मृतपत्नीकः सर्वकर्मसु गर्हितः" इत्यादिवचनचोदितानाश्रमावस्थानप्रयोज्यप्रत्यवायितायास्तदनुमितसामान्यवैधकर्मानधिकारितायाश्चाभावमात्रमुच्यते न तु सपत्नीकसाध्यकार्यसाधकताप्युच्यतेऽन्यथा तु तादृशस्य विधुरस्याग्निहोत्रे ऽप्यधिकारिता स्यान्न चायं शिष्टानुमतः शास्त्राभ्यनुज्ञातो वा पन्थाः । अपरथा तु विद्यमानपत्नीकस्यापि प्रवासितजनकात्मजादारस्योदा-

रस्याप्यवलम्बितानुदाररीतेः श्रीरामचन्द्रस्य कुशमयसीताप्रतिकृतिकरणमप्यनुचितं स्याद् विद्यमानयोः कुशलवयोः, तदवश्यमेतैर्वचनैस्तादृशविशिष्टगुणवत्पुत्रवतां सामान्यविधिपरिचोदितकर्मस्वनधिकारमात्रमपनुद्यते न त्वाश्रमितापि बोध्यते। यदि तु दीक्षादाने पत्नीमत्त्वं नाधिकारितावच्छेदकं किन्त्वनाश्रमित्वाभावः, स च प्रकृते पुत्रविशेषवतो निरुक्तवचनैर्निर्वोढुं शक्य इति मन्त्रदानार्हतावच्छेदककुक्षौ पत्नीसत्त्वनिवेशो नावश्यक इति ब्रूषे तदापि ब्रह्मचर्यवदितरस्य मन्त्रदातृत्वे पत्नीसत्त्वनिरुक्तशीलशाल्यपत्यवत्त्वान्यतरवत्त्वमधिकारित्वप्रयोजकमिति न तावता निरुक्तान्यतरधर्मशून्यानामनाश्रमिगृहस्थानामधिकारिता मन्त्रदाने इति विसृष्टमर्यादानां नाधिकारो मन्त्रदान इति पुष्कलम्। यद्यपि सतीनिधनानन्तरं हैमवतीविवाहात्पूर्वं विधुरेणापि शिवेन नारदाय ब्रह्मविद्योपदिष्टेति पौराणिकीं प्रसिद्धिमनुरुन्धाना मृतपत्नीकानामपि वैधुर्यदशायां शिष्येभ्यो गायत्र्यादिमन्त्रदानमनुमन्यन्ते निरुक्तार्थोपष्टम्भदानाय च प्रवर्तमानाः कुशकाशावलम्बनन्यायेन "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः"। म०। अ०। ६ श्लो० २९। ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः। विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये।३०। "आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वा ऽन्यतमया तनुम्। वीतशो-

कभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ श्लो० ३३। पञ्चमेऽपि मानवे "अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ॥ दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् । १५९। इत्यादिवचननिचयमुदाहरन्ति तदेतदत्यन्तनिःसारं शाल्मलिफलकल्पमेव, तथाहि न हि भगवतः शिवस्य हैमवतीपरिणयाप्राग् वैधुर्यवतो नारदे ब्रह्मविद्योपदेशो गायत्र्यादिमन्त्राणामपत्नीकादिरहस्योपदेशयोग्यताप्रसाधनायालं येन तद्दृष्टान्तमवष्टभ्य तथा वक्तुं पार्येतापि तथा सति हि महाभारते ब्रह्मविद्यामधिजिगांसमानानामृषीणां धर्मव्याधे मांसं विक्रीणाने उपसत्तिरभिहिता तस्यापि गायत्र्यादिमन्त्रोपदेशप्रसाधिका स्यादिति साधु ते दृष्टान्तदृष्टिर्धर्ममर्मनिर्णयोपयिकीत्येवाचक्ष्महे ॥

यच्च पत्नीसंबन्धगन्धशून्यमपि वानप्रस्थं प्रस्तुत्य दीक्षाग्रहणे तादृशस्य परममोक्षं च वक्ति" इत्यादिना पत्नीसंबन्धविधुरस्य वानप्रस्थस्य "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्" इत्यादिना दीक्षाग्रहणकथनेन पत्नीसंबन्धरहितानां दीक्षाग्रहणवर्णनं तदप्युपहासास्पदं "संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा" म०। अ० ६। श्लो० ३। इति मन्वनुमतरीत्या वानप्रस्थाश्रमे भार्यासहवासस्याप्यनुमततया वानप्रस्थाश्रमे भार्यासंबन्धविरहनैयत्यविरहेण,"पत्नीसंबन्धशू-

न्यमपीत्युक्तेरसंभवात्" किञ्च पत्नीं पुत्रेषु निक्षिप्य वनं प्रतिष्ठमानोऽपि न पत्नीविधुर इति शक्यो व्यवहर्तुं येन तं दृष्टान्तीकृत्य दीक्षादाने पत्नीसंबन्धसत्त्वौदासीन्यमुपपाद्येत, "अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्। ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः" ॥ श्लो० ४ इति षाष्ठमनुवचनेन स्रुक्स्रुवाद्युपकरणोपेतस्य आवसथ्याग्निसहितस्य वानप्रस्थाश्रमाश्रयणविधानेन पत्नीसंबन्धवैधुर्यव्यवहारकथाया अप्यनवतारात्। अत एवेहैव "वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन् पर्व पौर्णमासं च योगतः" श्लो० ९। इति वानप्रस्थमुपक्रम्याभिहितश्लोकं व्याचक्षाणेन कुल्लूकभट्टेन "पुत्रेषु भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामिव भार्यायामेतेषामनुष्ठानमुचितं विशेषाश्रवणात्" इत्यभिहितम्। भार्यामपहाय वनं प्रस्थितस्य यदि पत्नीसंबन्धशून्यताऽनुमताऽभविष्यत्तदा तु रजस्वलायामिव भार्यायामिति टीकाकृतां दृष्टान्तदानं न समगंस्यत, तदत्र मनुतद्व्याख्यात्रोरुभयोरपि वानप्रस्थावस्थायां पत्नीसहवासासहवासयोरपि पुंसः पत्नीसंबन्धनिबन्धनकर्मकर्तृताऽभिमतेति वानप्रस्थस्य पत्नीसंबन्धशून्यत्वाभिधानमृजुदृशामेव शोभताम्। किंच पत्नीसंबन्धो न पत्न्याः संयोगादिलक्षणः संबन्धो गृहस्थावस्थास्वपि तस्यानवरतस्यासंभवात् किन्तु पत्नीसत्त्वप्रयुक्तादृष्टविशेषशालित्वमेव

पत्नीसंबन्धपदेनावश्यं विवक्षणीयमिति तदस्ति जीवज्जानि-मस्करिव्यावृत्तं वानप्रस्थस्यापि गृहस्थेन समानमित्यनिपुणमेतत्। अत्र यौवनस्थां पत्नीं परित्यज्य गृहीतन्यासस्य पत्नीसंबन्धशून्यस्यापि पत्नीप्रयुक्तादृष्टशालितया तदपनुत्त्यै विशेषपदं, ततश्च पत्नीसंबन्धनिबन्धनाग्निकार्यादिप्रयोजकातिशयशालित्वे पर्यवसानमिति न कश्चिदिह दोषलेशो-विशेषस्त्वत्र मदीयत्रैवर्णिकसर्वस्वे ब्राह्मणपेटिकास्ववगन्तव्यः। यदप्यत्र दीक्षापदेन मन्त्राम्नानं, तदपि मन्वर्थानवबोधनिबन्धनमेव यतोऽत्र दीक्षाशब्दार्थो न मन्त्रः किन्तु स्मृत्युक्तो वानप्रस्थाचारस्तथैव प्रकरणानुग्रहात् तथाहि "तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाचरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु"। म०। अ० ६। श्लो०। २७। "ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्। प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा"। २८। इत्यभिधाय "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा" इत्यभिहितं ततश्चेह एता इति पदं न मन्त्रपरं भवितुमर्हति तेषामिहानुपक्रान्तत्वात्किन्तूपक्रमोपसंहारानुगुण्यात् पूर्वोक्ता वानप्रस्थाचारा एव परामृश्यन्ते अत एव कुल्लूकभट्टोऽपि "वानप्रस्थ एता दीक्षाः एतान्नियमान् अन्यांश्च वानप्रस्थशास्त्रोक्तान् अभ्यसेत्" इति व्याचख्यौ, तदत्र दीक्षापदं न मन्त्रार्थकमिति सुपुष्कलम्। यदप्यत्र वानप्रस्थमुपक्रम्य दीक्षाग्रहणं तादृशस्य परमं

मोचं च वक्ती” ति तदपि स्वाभिधेयानवबोधनिबन्धनमेव तथाहि किमिह दीचाग्रहणपदेन वानप्रस्थस्य स्वयं दीचाग्रहणं वा ? वानप्रस्थकर्तृकं परस्य दीचाग्रहणमेव अन्तर्भावितणिजर्थतयाऽभिमन्यते तत्र न प्रथमः कल्पोऽवकल्पते गृहीतगायत्रीकस्यापि दुरदृष्टवतः पूर्वोक्तशाण्डिल्यमहर्षिन्यायेन तत्रालब्धसंतोषस्य मन्त्रान्तरं जिघृचतो भवेदेवाधिकारिता शिष्यतावच्छेदकस्य शान्तिदान्त्यादेर्वानप्रस्थेऽपि सौलभ्यादिति कस्ते तस्याधिकारितासंरचणार्थं मनुवचनोपन्यासप्रयासः । यदितु द्वितीयः कल्पस्तदा तु पूर्वोक्तताराकल्पवचनानुसारेण वानप्रस्थस्य गुरूकरणनिषेधान्नोचितं ते तत्पचाश्रयणमित्येव ब्रूमहे । यदपि वैष्णवमन्त्रग्रहणे नाश्रमादिनियमस्तद्ग्रहणाधिकारिताप्रयोजकस्य मुमुचुत्वस्य सर्वाश्रमाविशेषादिति भवेदप्यन्यमन्त्रग्रहणे परं न वैष्णवमन्त्रग्रहणे कश्चित्सपत्नीकत्वापत्नीकत्वयोर्नियतो हेतुभाव इत्यभिधानं, तदपि न विचारसहं तथाहि किमाधुनिकानां वैष्णवमन्त्रग्राहिणां शास्त्रेष्वनवरतं घुष्टो वर्णाश्रमनियमो ऽभिमतो न वा, यद्यभिमतस्तर्हि वर्णप्रयुक्तानुष्ठानवतामाश्रमप्रयुक्तविधिनिषेधाज्ञापरिपालनमावश्यकमिति गृहस्थस्य ब्राह्मणस्य सपत्नीकस्यैव मन्त्रोपदेशादिकर्तृत्वमपत्नीकस्य सर्वकर्मानर्हस्य तत्रानधिकारात्, ब्रह्मचारिणस्तु पुनरपत्नीकस्यैवाधिकारित्वं मन्त्रोपदेशादौ, वान-

प्रस्थसंन्यासिनोस्तु पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मविद्योपदेष्टृत्वेऽपि न मन्त्रोपदेष्टृत्वं तयोः पूर्वोपन्यस्तवचनानुसारेण मन्त्रोपदेशानधिकारित्वात्। ततश्च मन्त्रोपदेशानुगुणार्थित्वसामर्थ्ययोरन्त्यजादिसाधारण्येऽपि यथा वर्णबहिष्कृतानामनुपदेश्यत्वं तवाप्यभिमतं, तथा मुमुक्षायाः सपत्नीकापत्नीकगुरुशिष्यसाधारण्येऽपि म्लेच्छपतितादिसाधारण्येऽपि च न तावन्मात्रस्य प्रयोजकत्वं वर्णाश्रमनियमलङ्घनजङ्घालानां सुवचमिति वैष्णवमन्त्रग्रहणे पत्नीसद्भावासद्भावावुदासीनाविति पुनरनभिज्ञभाषितमेव एतेन "सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु नारीषु नानास्वयजन्मखेषु। दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एषः" ॥ इति नारदपञ्चरात्रवचनमुपन्यस्य सपत्नीकापत्नीकपुरुषसाधारण्येन भगवन्मन्त्राधिकारितामभिधाय भगवन्मन्त्रग्रहणे न कश्चिन्नियम इति प्रलपितमप्यपास्त', निरुक्तपञ्चरात्रवचनेन गोपालदीक्षायाः सर्ववर्णाश्रमसाधारण्याभिधानेऽपि अनाश्रमाणां तदनधिकारित्वात्, प्रत्युत निरुक्तवचनमेवानाश्रमाणामनधिकारित्वबोधकमाश्रमवर्णसामानाधिकरण्ये नाधिकारितोत्कीर्त्तनादिति न पाणिपिहितम्। यदपि "पितुर्दीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः। अनाश्रमाणां या दीक्षा सा दीक्षा दुःखदायिनी" त्ये तद्वचनस्य कौलिकदीक्षापरत्वमाख्यायेतरमन्त्राणां यत्यादिसाधारण्ये नोपदेशाधिकारमिच्छन्ति

तदेतदप्यमन्दमान्ध्यनिबन्धनमेव सामान्यतो यतिदीक्षानिषेधे तस्य कौलिकमन्त्रमात्रपरत्वाख्याने प्रमाणविरहात्। अत एव शैवागमे "भिक्षुभ्यश्च वनस्थेभ्यो वर्णिभ्यश्च महेश्वरि!। गृहस्थो भोगमोक्षार्थी मन्त्रदीक्षां न चाचरेत्॥ त्यक्ताग्नयः क्रियाहीना यतयो निष्परिग्रहाः। वनस्थास्तादृशा ये च वर्णन्यूनाश्रया यतः॥ अतस्तेषां नाधिकारोदीक्षादाने महेश्वरि"! इति स्फुटमेव भोगमोक्षोभयसाधनमन्त्रसाधारण्येन यतिदीक्षां प्रतिषिषेध तन्त्राचार्यः शिवः। अत एव तु यतितो भ्रमप्रमादादिना दीक्षाग्रहणे धेनुधनादिलोभेन पूजाख्यातिप्रेप्सया वा मन्त्रग्रहणे प्रायश्चित्तमुक्तं योगिनीतन्त्रे। "यतेर्दीऽक्षां गृहीत्वा तु कदाचिदपि मोहितः। प्रायश्चित्ते धेनुरेका त्रिरात्रव्रतमेव वा॥ प्रायश्चित्तं ततः कृत्वा पुनर्दीक्षां समाचरेत्"। चन्द्रयामलेऽपि "पितृदीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा तु वनवासिनाम्। विरक्ताश्रमिणां दीक्षा पुत्रायुर्धननाशिनी॥" इति, ततश्च यतिवानप्रस्थयोः सर्वथा मन्त्रदानानधिकारिता तदीयमन्त्रग्रहणे ग्रहीतुः प्रायश्चित्ताधिकारिता चेति शास्त्रसिद्धान्तः। यच्च शास्त्रेषु यतेर्ज्येष्ठोपदेशः स त्वाश्रमज्येष्ठे तस्मिन्युक्त एव यच्च गुरुत्वोपदेशः- स तु ज्येष्ठत्वेन, यतिगुरुत्वेन वा, न तु गृहस्थस्य मन्त्रदातृ-

त्वेन, यतिर्हि धर्मतो गृहस्थस्य मन्त्रोपदेशानर्होऽपि, अर्हत्येव यतिमुपदेष्टुमिति क्वाचित्की तस्य मन्त्रदानश्रुतिर्यतिपरेति न किंचिदवद्यम् ॥

यच्च वसिष्ठस्य महर्षेर्निजपितृतो ब्रह्मणो हिरण्यगर्भान्मन्त्रग्रहणं यच्च तस्य निजपुत्राय सपुत्राय मन्त्रप्रदानं शास्त्रे प्रसिध्यति, न तदस्माकं पितृतो मन्त्रग्रहणसाधकं नापि निजपुत्राय मन्त्रप्रदानाऽभ्यनुज्ञाफलकं पूर्वोक्तवचननिचयेन तस्य निषिद्धत्वात्, वसिष्ठस्य तु पितृतो मन्त्रग्रहणं पुत्रे मन्त्रग्राहणं च योग्यगुर्वलाभनिबन्धनमिति न दोषाय, जातोऽपि वा प्रत्यवायस्तदीयस्तदीयतपोऽतिशयगरिम्णा विलीन इति वा कल्पनीयम् । अन्यथा तु वचनविरोधि आचारप्रामाण्याङ्गीकारे कृष्णप्रद्युम्नानिरुद्धानामेककुलकन्यकोद्वाहदृष्टान्तेन धर्मशास्त्रं बाध्येतेति बहु व्याकुलीस्यात्, स्याच्च द्रौपदीदृष्टान्तेन बहुभर्तृकत्वमपि धर्मायेति वचनविरोधे नाचारोऽनुसरणीयः। अथवा भगवान् वसिष्ठो ब्रह्मणो गायत्रीमेव गृहीतवान् पितृतो मन्त्रग्रहणनिषेधस्तु गायत्र्यतिरिक्तमन्त्रपर एव गायत्रीमन्त्रस्तु विशेषवचनमहिम्ना पितृत एव गृह्यते यथाऽह गर्गः * संस्कारभास्करादौ

* माधवीये तु "पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजोऽग्रजः । उपानयेऽधिकारी स्यात्पूर्वाभावे परः परः"

"पितैवोपनयेत्पुत्रं तदभावे पितुः पिता। तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः"। ततश्च पितृतो मन्त्रग्रहणनिषेधवाक्यं गायत्र्यतिरिक्तकास्यमन्त्रपरमिति न किंचिदवद्यम् एवं चाद्यत्वे प्रचलितः शिष्टगृहेषु पितृतो गायत्रीग्रहणसंप्रदायोऽप्यनुगृह्यते। अयमेवार्थो ध्वनितो मनुनाऽपि द्वितीयाध्याये "निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते" इति॥ ततश्च निषेककर्तुः पितुरेवोपनयनादिसंस्कारकारकत्वमित्युपनयनस्य गायत्र्युपदेशफलस्य प्रधानानुष्ठापयिता चेत्पिता तर्हि तस्य संस्कारकारकत्वविध्यन्यथाऽनुपपत्त्या गायत्र्युपदेष्टृत्वं सिध्यति। अत एवेहैव कुल्लूकभट्टोऽपि "तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः" इत्यवोचदिति सर्वं चतुरस्रमिति न वचनविद्रोहसमुत्थानसंभावनाऽपीति शम्।

इदानीमुपदिश्यमाना मन्त्राः कीदृशाः के च? इति जिज्ञासायां बहुविधा बहवश्चेत्युत्तरं, तथा हि वैदिकाः, स्मार्ताः, पौराणिकास्तान्त्रिकाः, शावरा, याक्षाः, राक्षसाः, पैशाचाः स्वाप्ना, गारुडा, वैताला इत्यनेकविधाः, तत्रापि च

इति ह्यत्रमनुना क्रमोऽप्युपदर्शितः। अयं च क्रमो विप्रविषये, अनापदि क्षत्रियादेस्त्वध्यापनानधिकारित्वात्पुरोहित एवोपनेतेति विवेकः।

वेदस्यैवैकस्य ऋग्यजुः सामाथर्वादिभेदभिन्नतया तेषामपि च संहिताब्राह्मणोपनिषदारण्यकाद्यनेकभेदप्रविभिन्नतया तत्तदवान्तरभेदैर्बहुविधा वैदिका एव मन्त्राः । एवमेव स्मार्ताः पौराणिकाश्चापि मन्त्रा बहुविधाः । तान्त्रिकैस्तु मन्त्रैर्जगदेतदशेषमेव व्यामोहितमिति न कस्यापि निरूपकस्य परोक्षमिति न बहु वक्तव्यं, शावर मन्त्रा अपि तत्कालफलदा इति विश्रुता बहुधा प्रचरन्ति, ते गृह्यन्ते नटैर्भिल्लैर्धर्मच्युतैर्द्विजैरपि । याक्षाश्च यक्षजातीयैरुपदिष्टाः । राक्षसाश्च रक्षोजातीयैरेवं पैशाचाः पिशाचजातीयैः । स्वाप्नास्तु स्वप्ने कयाचिद्देवतया अपरेण वा केनचिदुपदिष्टाः सुप्तोत्थितस्य स्मृतिमुपयाताः संस्कृताश्च सन्तस्ते पुनः फलदा भवन्ति तेषामसंस्करणे तु न किंचिदपि फलमिति तन्त्रशास्त्रप्रसिद्धिः । गारुडास्तु विषघ्नाः, सर्पादिविषवज्जन्तुभयदाश्चेति लौकिकी तान्त्रिकी च प्रसिद्धिः । वैतालास्तु वेतालजातीयदेवाराधनहेतुभूतामन्त्राः । एवमपरा अपि मन्त्रभिदाः स्वयमूहनीया यथा सौरा गाणपताः सारस्वता वैष्णवा इति ॥

इति श्रीकाशीस्थब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकेन परमपूरुषकृपासरित्पूरपरीवाहपूर्णपात्रेण पण्डितवरश्रीराममिश्रशास्त्रिणा प्रणीता परमपुरुषार्पिता मन्त्रमीमांसा संवत् १९४३ ॥ आषाढ़कृष्णसप्तमीबृहस्पति ।